

गद्य सीप

पाठ्य पुस्तक

बी.कॉम/एम.बी.एस. प्रथम सेमिस्टर
चयन आधारित क्रेडिट पद्धति
(सी.बी.सी.एस.)

संपादक

डॉ. बबिता बी.एम.

एसो. प्रो. नागराजन ई. एम.



प्रसारांग

बेंगलूरु केन्द्र विश्वविद्यालय

बेंगलूरु

GADYA SEEP : Edited by Dr Babita B.M. and Associate Professor Nagarajan E.M. ; Published by Prasarang, Bengaluru Central University, Bengaluru-560001 PP. 76+VIII

© : बेंगलूर केन्द्र विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण : 2019

प्रधान संपादक :

डॉ. बबिता बी.एम.

एसो. प्रो. नागराजन ई.एम.

प्रकाशक :

प्रसारांग

बेंगलूरू केन्द्र विश्वविद्यालय

बेंगलूरू-560001

भूमिका

बेंगलूरु केन्द्र विश्वविद्यालय द्वारा शैक्षणिक वर्ष 2014-15 से सेमिस्टर पद्धति में चयन आधारित क्रेडिट पद्धति (सी.बी.सी.एस.) स्कीम स्नातक वर्ग के लिए चला रहा है, किन्तु बेंगलूरु विश्वविद्यालय के त्रिभाजन के फलस्वरूप 'बेंगलूरु केन्द्र विश्वविद्यालय' की ओर से आगामी 2019-2020, 2020-2021 तथा 2021-2022 शैक्षणिक वर्षों के लिए नवीन पाठ्यक्रम का निर्माण भी उपर्युक्त आधार पर ही स्नातक वर्ग हेतु किया गया है।

इस पृष्ठभूमि में हिन्दी-अध्ययन-मण्डल ने विभागाध्यक्ष डॉ. शेखर जी के मार्गदर्शन में पाठ्य-पुस्तक का निर्माण किया है।

संपादक-मण्डल का विश्वास है कि यह गद्य-संकलन छात्र-समुदाय के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। इस पाठ्य पुस्तक के निर्माण में सहयोग देने वाले सभी महानुभावों के प्रति विश्वविद्यालय आभारी है।

इस संकलन को अल्प समय में सुन्दर रूप से छापने वाले मैसूर विश्वविद्यालय प्रेस के निदेशक एवं कर्मचारियों के प्रति भी मैं आभारी हूँ।

प्रो. जाफट एस.

कुलपति

बेंगलूरु केन्द्र विश्वविद्यालय

बेंगलूरु

प्रकाशक की बात

बेंगलूरु केन्द्र विश्वविद्यालय ने स्नातक वर्गों के लिए सेमिस्टर पद्धति में (सी.बी.सी.एस.) लागू किया है, उसके अनुसार हिन्दी-अध्ययन-मण्डल ने अपने विभागाध्यक्ष के मार्गदर्शन में पाठ्य-पुस्तक का निर्माण किया है।

पाठ्य पुस्तक को समय पर तैयार करने में डॉ. शेखर जी, डॉ. बबिता बी.एम. और एसो. प्रो. नागराजन ई. एम. ने बड़ा सहयोग दिया है। उनके प्रति मैं आभारी हूँ।

विश्वविद्यालय की ओर से पाठ्य-पुस्तकों को प्रकाशित कराने में उपकुलपति प्रो. जाफट एस. जी ने अत्यन्त उत्साह दिखाया है। एतदर्थ मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। इस पुस्तक को सुन्दर रूप से छापने वाले मुद्रणालय के कर्मचारियों के प्रति भी मैं आभारी हूँ।

प्रसारांग

बेंगलूरु केन्द्र विश्वविद्यालय
बेंगलूरु

अध्यक्ष की बात

बंगलूरू केन्द्र विश्वविद्यालय शैक्षणिक क्षेत्र में नये-नये विषयों को अपने अध्ययन की सीमा में ले रहा है। अध्ययन को आज के संदर्भ के अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयत्न हो रहा है। साहित्यिक विषयों को आज की बदलती परिस्थितियों के अनुसार रूपित करने के उद्देश्य से पाठ्यक्रम को प्रस्तुत किया जा रहा है।

बी.कॉम/एम.बी.एस प्रथम सेमिस्टर स्नातक वर्ग के लिए चयन आधारित क्रेडिट पद्धति (सी.बी.सी.एस.) के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया है। इस पाठ्य-पुस्तक के निर्माण में सहयोग देने वाले संपादकों के प्रति मैं आभारी हूँ।

इन नये पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण में कुलपति महोदय प्रो. जाफट एस. जी ने अत्यधिक प्रोत्साहन दिया, एतदर्थ मैं इनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के प्रकाशक, प्रसारांग और मुद्रणालय के सभी कर्मचारियों के प्रति भी आभारी हूँ।

डॉ. शेखर

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बंगलूरू विश्वविद्यालय

संपादक की कलम से...

हिन्दी साहित्य बहु-आयामी है। आदिकाल से आधुनिक काल तक की यात्रा के दौरान हिन्दी में विपुल रूप से परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहा है। इस दौरान हिन्दी साहित्यिक विधाओं में विशेषतः गद्य के विभिन्न रूपों में पर्याप्त रचनाएं हुई हैं, जिनसे हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है।

हिन्दी, समन्वय-एकता और अखण्डता की भाषा भी है। आधुनिक युग की सभी भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी के साथ हिन्दी ने समन्वय स्थापित किया है। हिन्दी भाषा की यह समन्वय प्रवृत्ति उसके साहित्य में भी पायी जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि साहित्य की उदारता ने ही भाषा को भी उदार बनाया है। इस प्रकार हिन्दी भाषा और उसका साहित्य दोनों ही राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बन गए हैं।

संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्यों की परम्परा विकसित होकर हिन्दी साहित्य लगभग बारह सौ वर्षों की सुदीर्घ यात्रा में निरन्तर राष्ट्रीय एकता का वाहक बनकर विकास की ओर बढ़ रहा है। आजादी के पहले और बाद में पाश्चात्य साहित्य का भी काफी प्रभाव हिन्दी साहित्य पर हुआ।

हिन्दी साहित्य की यात्रा के इस युग में कहानी, हास्य-व्यंग्य, लेख, आत्मकथा, उपन्यास, एकांकी, रिपोर्ताज, यात्रा वृत्तांत, संस्मरण, निबन्ध जैसे अनेक विधाएँ गद्य साहित्य में पनपीं। आज विज्ञान और वैश्वीकरण के इस दौर में हिन्दी गद्य साहित्य ने अपना एक सुदृढ़ स्थान और पहचान बना लिया है।

अगर हम वाणिज्यिक वर्ग के विद्यार्थियों को साहित्य से जोड़े रख सकें, तो आनेवाले समय में साहित्य की नवकृति से वे खुद भी अवगत होंगे

और दुनिया को भी द्रुतगति से इसका परिचय कराते हुए आगे ले जाएंगे। गद्य सीप का यह संकलन बंगलूरु केन्द्र विश्वविद्यालय के बी. कॉम (प्रथम सेमिस्टर) स्नातक वर्ग के लिए चयन आधारित क्रेडिट पद्धति (सी.बी.सी.एस.) पर आधारित पाठ्यक्रम है। इस गद्य संकलन का प्रमुख उद्देश्य अहिन्दी भाषी प्रदेशों के विद्यार्थियों को हिन्दी गद्य साहित्य की विविध विधाओं से परिचित कराना है।

विद्यार्थियों की अभिरुचि और आवश्यकता को ध्यान में रखकर संकलन की पाठ्यसामग्री को रोचक और ज्ञानवर्धक बनाने का प्रयास किया गया है।

इस संकलन में जिन साहित्यकारों की रचनाएं प्रकाशित हुई हैं, उनके प्रति हम आभारी हैं। आशा है कि प्रस्तुत संकलन, विद्यार्थियों में साहित्य को समझने में सहयोग करेगा और साथ ही उनमें सामाजिक सरोकारों की भावनाओं को मजबूत करेगा।

यह संकलन उनमें राष्ट्रीय चेतना और एकता के विचार को प्रबल बनाने में सफल होगा।

**डॉ. बबिता बी.एम.
एसो. प्रो. नागराजन ई.एम.**

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

1 चारा काटने की मशीन	... 1
(कहानी) उपेन्द्रनाथ अशक	
2 वह चीनी भाई	... 7
(रेखाचित्र) महादेवी वर्मा	
3 अतिथि! तुम कब जाओगे	... 18
(व्यंग्य रचना) शरद जोशी	
4 कूर्माचल में कुछ दिन	... 21
(यात्रा वृत्तांत) डॉ. धर्मवीर भारती	
5 धारणा बनाने में जल्दबाजी क्यों	... 27
(निबंध) मृदुला सिन्हा	
6. भटकन	... 31
(नाटक) शैल रस्तोगी	
7. शवयात्रा	... 45
(कहानी) ओमप्रकाश वाल्मीकि	
8. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	... 57
(संस्मरण) विष्णु प्रभाकर	
लेखक परिचय	... 65
वाणिज्यिक शब्दावली	... 74

1. चारा काटने की मशीन

– उपेंद्रनाथ अशक

रेल की लाइनों के पार, इस्लामाबाद की नई आबादी के मुसलमान जब सामान का मोह छोड़, जान का मोह लेकर भागने लगे तो हमारे पड़ोसी लहनासिंह की पत्नी चेती।

“तुम हाथ पर हाथ धरे नामदों की भांति बैठे रहोगे,” सरदारनी ने कहा, “और लोग एक से एक बढ़िया घर पर कब्जा कर लेंगे।”

सरदार लहनासिंह और चाहे जो सुन लें, परन्तु औरत जात के मुंह से ‘नामर्द’ सुनना उन्हें कभी गवारा न था। इसलिए उन्होंने अपनी ढीली पगड़ी को उतारकर फिर से जूड़े पर लपेटा; धरती पर लटकती हुई तहमद का किनारा कमर में खोंसा; कृपाण को म्यान से निकालकर उसकी धार का निरीक्षण करके उसे फिर म्यान में रखा और फिर इस्लामाबाद के किसी बढ़िया ‘नए’ मकान पर अधिकार जमाने के विचार से चल पड़े।

वे अहाते ही में थे कि सरदारनी ने दौड़कर एक बड़ा-सा ताला उनके हाथ में दे दिया। “मकान मिल गया तो उस पर अपना कब्जा कैसे जमाओगे?”

सरदार लहनासिंह ने एक हाथ में ताला लिया, दूसरा कृपाण पर रखा और लाइनें पार कर इस्लामाबाद की ओर बढ़े।

खालसा कालेज रोड, अमृतसर पर, पुतली घर के समीप ही हमारी कोठी थी। उसके बराबर एक खुला अहाता था। वहीं सरदार लहनासिंह चारा काटने की मशीनें बेचते थे। अहाते के कोने में दो-तीन अंधेरी-सीली कोठरियां थीं।

मकान की किल्लत के कारण सरदार साहब वहीं रहते थे। यद्यपि काम उन्होंने डेढ़-दो हजार रुपये से आरम्भ किया था, पर लड़ाई के दिनों में (किसानों के पास रुपये का बाहुल्य होने से) उनका काम खूब चमका। रुपया आया

तो सामान भी आया और सुख-सुविधा की आकांक्षा भी जगी। यद्यपि प्रारम्भ में उस अहाते और उन कोठरियों को पाकर पति-पत्नी बड़े प्रसन्न हुए थे, परन्तु अब उनकी पत्नी, जो 'सरदारनी' कहलाने लगी थी, उन कोठरियों तथा उनकी सील और अंधेरे को अतीव उपेक्षा से देखने लगी थी। ग्राहकों को मशीनों की फुर्ती दिखाने के लिए दिन-भर उसमें चारा कटता रहता था। अहाते-भर में मशीनों की कतारें लगी थीं जो भावना-रहित हो अपने तीखे छूरोँ से चारे के पूले काटती रहती थीं। सरदारनी के कानों में उनकी कर्कश ध्वनि हथौड़ों की अनवरत चोटों-सी लगती थीं। जहाँ-तहाँ पड़े हुए चरी के पूले और चारे के ढेर अब उसकी आंखों को अखरने लगे। सरदार लहनासिंह तो यद्यपि उनकी पगड़ी और तहमद रेशमी हो गयी थी और उनके गले में लकीरदार गबरुन की कमीज का स्थान घुटनों तक लम्बी बोस्की की कमीज ने ले लिया था-वही पुराने लहनासिंह थे। उन्हें न कोठरियों की तंगी अखरती थी, न तारीकी, न मशीनों की कर्कशता, न चारे के ढेरों की निरीहता, बल्कि वे तो इस सारे वातावरण में बड़े मस्त रहते थे। वे उन सरदारों में से हैं जिनके सम्बन्ध में एक सिख लेखक ने लिखा है कि जिधर से पलटकर देख लो, सिख दिखाई देंगे।

कुछ पतले-दुबले हों, यह बात नहीं। अच्छे-खासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे और उनकी मर्दुमी के परिणामस्वरूप पांच बच्चे जोंकों की तरह सरदारनी से विपटे रहते थे। परन्तु यह सरदारनी का ढंग था। उसे यदि सरदार लहनासिंह से कोई काम कराना होता, जिसमें कुछ बुद्धि की आवश्यकता हो तो वह उन्हें 'बुद्धू' कहकर उकसाती और यदि ऐसा काम कराना होता, जिसमें कुछ बहादुरी की जरूरत हो तो उन्हें नामर्द का ताना देती। उसका ढंग था तो खासा अशिष्ट पर रुपया आने और अच्छे कपड़े पहनने ही से तो अशिष्ट आदमी शिष्ट नहीं हो जाता। फिर सरदारनी को नए धन का भान चाहे हो, शिष्टता का भान कभी न था।

सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुंचे तो वहाँ मार-धाड़ मची हुई थी। उनकी चारा काटने की मशीनें जिस प्रकार भावना-रहित होकर चरी के निरीह पूले काटती थीं, कुछ उसी प्रकार उन दिनों एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों को काट रहे थे। सरदार लहनासिंह ने अपनी चमचमाती हुई कृपाण निकाली कि यदि किसी मुसलमान से मुठभेड़ हो जाए तो तत्काल उसे अपनी मर्दुमी का प्रमाण दे दें। परन्तु इस ओर जीवित मुसलमान का निशान तक न था। हाँ, गलियों में रक्तपात के चिह्न अवश्य थे। और दूर लूट-मार की आवाजें भी आ रही थीं।

तभी, जब वे सतर्कता से बढ़े जा रहे थे, उनको अपने मित्र गुरदयाल सिंह मकान का ताला तोड़ते दिखाई दिये।

सरदार लहनासिंह ने रुककर प्रश्नसूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

“मैं तो इस मकान पर कब्ज़ा कर रहा हूँ।” सरदार गुरदयालसिंह ने एक उचटती हुई दृष्टि अपने मित्र पर डाली और निरन्तर अपने काम में लगे रहे।

तब सरदार लहनासिंह ने ढीली होती हुई पगड़ी का सिरा निकालकर पेंच कसा और अपने मित्र के नए मकान की ओर देखा। उसे देखकर उन्हें अपने लिए मकान देखने की याद आयी और वे तत्काल बढ़े। दो-एक मकान छोड़कर उन्हें सरदार गुरदयालसिंह की अपेक्षा कहीं बड़ा और सुन्दर मकान दिखाई दिया, जिस पर ताला लगा था। आव देखा न ताव, उन्होंने गली में से एक बड़ी-सी ईंट उठायी और दो-चार चोटों ही में ताला तोड़ डाला।

वह मकान यद्यपि बहुत बड़ा न था, परन्तु उनकी उन कोठरियों की तुलना में तो स्वर्ग से कम न था, कदाचित किसी शौकीन क्लर्क का मकान था, क्योंकि एक छोटा-सा रेडियो भी वहां था और ग्रामोफोन भी। गहने-कपड़े न थे और ट्रंक खुले पड़े थे। मकान वाला शायद मार-धाड़ से पहले शरणार्थी कैम्प या पाकिस्तान भाग गया था। जो सामान वह आसानी से साथ ले जा

सकता था, ले गया था। फिर भी ज़रूरत का काफ़ी सामान घर में पड़ा था। यह सब देखकर सरदार लहनासिंह ने उल्टी कलाई मुंह पर रखी और ज़ोर से बकरा बुलाया। फिर तहमद की कोर को दोनों ओर से कमर में खोंसा और सामान का निरीक्षण करने लगे।

जितनी काम की चीज़ें थीं, वे सब चुनकर उन्होंने एक ओर रखीं, अनावश्यक उठाकर बाहर फेंकी, वही बड़ा ताला, जो वे घर से लाये थे, मकान में लगाया, गुरदयालसिंह को बुलाकर समझाया कि उनके मकान का ख्याल रखें और स्वयं अपना सामान लाने चले कि मकान पूर्ण रूप से उनका हो जाए।

जब वे अपने घर पहुंचे तो उन्हें खयाल आया कि सामान ले जाएंगे कैसे? इस भगदड़ में तांगा-इक्का कहाँ? तब अहाते से साइकिल लेकर वे अपने पुराने मित्र रामधन ग्वाले के यहाँ पहुंचे जिसकी बैलगाड़ी पर (ट्रकों पर लाने-ले आने से पहले) वे अपनी चारा काटने की मशीनें लादा करते थे। मिन्नत-समाजत कर, दोहरी मजदूरी का लालच देने के बाद वे उसे ले आए।

जब सारा सामान गाड़ी में लद गया और वे चलने को तैयार हुए तो सरदारनी ने साथ चलने का अनुरोध किया। तब उन्होंने उस नेकबरख्त को समझाया कि वहां के दूसरे सरदार अपनी सिंहनियों को बुला लेंगे तो वे भी ले जाएंगे। 'वे लाख सिंहनियां सही...', सरदार लहनासिंह ने अपनी पत्नी को समझाया, 'पर हैं तो औरतें ही और दंगे-फिसाद में औरतों ही को अधिक सहना पड़ा है।' फिर उन्होंने समझाया कि अहाते का भी तो ख्याल रखना चाहिए। शरणार्थी धड़ाधड़ आ रहे हैं, कौन जाने यहाँ घर खुला देखकर जम जाए।

सरदारनी मान गई, परन्तु जब सरदार लहनासिंह चलने लगे तो उसने सुझाया कि वे सामान के साथ चारा काटने की एक मशीन ले जाकर अवश्य अपने नए घर में स्थापित कर दें, ताकि उनकी मिलकियत में किसी प्रकार का सन्देह न रहे और सभी को पता चल जाए कि यह मकान चारा काटने की मशीनों वाले सरदार लहनासिंह का है।

सरदारनी का यह प्रस्ताव सरदार जी को बहुत अच्छा लगा।

यद्यपि बैलगाड़ी में और स्थान न था, परन्तु सामान पर सबसे ऊपर चारा काटने की एक मशीन किसी-न-किसी प्रकार रखी गयी। गिर न जाए, इसलिए रस्सों से उसे कसकर बांधा गया और सरदार लहनासिंह अपने नए घर पहुंचे। गली ही में उन्होंने देखा कि सरदार गुरदयालसिंह की सिंहनी और बच्चे तो नए मकान में पहुंच भी गये हैं। तब उन्हें लगा कि उनसे भारी गलती हो गयी है। उन्हें भी अपनी सिंहनी को तत्काल ले आना चाहिए। यदि पतला-दुबला गुरदयाल अपनी सिंहनी को ला सकता है तो वे क्यों नहीं ला सकते। यह सोचना था कि सारे सामान को उसी प्रकार डयोढ़ी में रख वही बड़ा-सा ताला लगा, उन्होंने गुरदयालसिंह से कहा कि भाई जरा ख्याल रखना, मैं भी अपनी सिंहनी को ले आऊँ, संगत हो जाएगी।

और उसी बैलगाड़ी पर सरदार लहनासिंह उल्टे पाँव लौटे। घर पहुंचकर उन्होंने अपनी सरदारनी को बच्चों के साथ तत्काल तैयार होने के लिए कहा। परन्तु एक-डेढ़ घंटे के बाद जब अपने बीवी-बच्चों सहित सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुंचे तो उनके नए मकान का ताला टूटा पड़ा था। डयोढ़ी से उनका सारा सामान गायब था। केवल चारा काटने की मशीन अपने पहरे पर मुस्तैदी से जमी हुई थी। घबराकर उन्होंने गुरदयालसिंह को आवाज़ दी, परन्तु उनके मकान में कोई और सरदार विराजमान थे। उनसे पता चला कि गुरदयालसिंह दूसरी गली के एक और अच्छे मकान में चले गये हैं। तब सरदार लहनासिंह कृपाण निकालकर अपने मकान की ओर बढ़े कि देखें चोर और क्या-क्या ले गये हैं।

डयोढ़ी में उनके प्रवेश करते ही दो लम्बे-तड़गे सिखों ने उनका रास्ता रोक लिया, बैलगाड़ी पर सवार उनके बीवी-बच्चों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि यह मकान शरणार्थियों के लिए नहीं। इसमें थानेदार बलवन्तसिंह

रहते हैं। थानेदार का नाम सुनकर लहनासिंह की कृपाण म्यान में चली गयी और पगड़ी कुछ और ढीली हो गयी।

“हुजूर, इस मकान पर तो मेरा ताला पड़ा था। मेरा सारा सामान...”

“चलो-चलो बाहर निकलो। अदालत में जाकर दावा करो। दूसरे के सामान को अपना बताते हो।”

और उन्होंने सरदार लहनासिंह को डयोढ़ी से ढकेल दिया। तभी लहनासिंह की दृष्टि चारा काटने की मशीन पर गयी और उन्होंने कहा, “देखिए, यह मेरी चारा काटने की मशीन है, किसी से पूछ लीजिए, मुझे यहाँ सभी जानते हैं।” परन्तु शोर सुनकर अपने ‘नए’ मकानों से जो सरदार या लाला बाहर निकले उनमें एक भी परिचित आकृति लहनासिंह को न दिखाई दी।

“यों क्यों नहीं कहते कि चारा काटने की मशीन चाहिए,” उन्हें धकेलने वाले एक सिख ने कहा और वह अपने साथी से बोला, “सुट्ट ओ करतारसिंहा, मशीन नूं बाहर। गरीब शरणार्थी हण। असां इह मशीन साली की करनी ए।” और दोनों ने मशीन बाहर फेंक दी।

दो-ढाई घंटे के असफल वाबेले के बाद जब सरदार लहनासिंह, रात आ गयी जानकर, वापस अपने अहाते को चले तो उनके बीवी-बच्चे पैदल जा रहे थे और बैलगाड़ी पर केवल चारा काटने की मशीन लदी हुई थी।

2. वह चीनी भाई

– महादेवी वर्मा

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही साँचे में ढले से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करने वाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़न जैसी नाक की गठन में भी विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। कुछ तिरछी अधखुली और विरल भूरी बरूनियों वाली आँखों की तरल रेखाकृति देख कर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीर कर बनाई गई हैं। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण चिह्नों पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछौंहे सूखे पत्ते की समानता पर लेता है। आकार प्रकार वेशभूषा सब मिल कर इन दूर देशियों को यंत्र चालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं, इसी से अनेक बार देखने पर भी एक फेरी वाले चीनी को दूसरे से भिन्न कर के पहचानना कठिन है।

पर आज उन मुखों की एकरूप समष्टि में मुझे आर्द्र नीलिमामयी आँखों के साथ एक मुख स्मरण आता है जिसकी मौन भंगिमा कहती है – हम कार्बन की कापियाँ नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के संबंध में तुम्हारी आँखें निरक्षर नहीं तो तुम पढ़ कर देखो न!

कई वर्ष पहले की बात है मैं तांगे से उतर कर भीतर आ रही थी कि भूरे कपड़े का गड्ढर बाएँ कंधे के सहारे पीठ पर लटकाए हुए और दाहिने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीने फेरी वाला फाटक के बाहर आता हुआ दिखा। संभवतः मेरे घर को बंद पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेमसाहब!' – दुर्भाग्य का मारा चीनी! उसे क्या पता कि वह संबोधन मेरे मन में रोष की सबसे तुंग तरंग उठा देता है। मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने संबोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर यह विजातीय संबोधन मानो सारा परिचय छीन कर मुझे गाउन में खड़ा कर देता

है। इस संबोधन के उपरांत मेरे पास से निराश होकर न लौटना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया—मैं फारन (विदेशी) नहीं खरीदती। 'हम फ़ारेन है? हम तो चाइना से आता है।' कहने वाले के कण्ठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न क्षोभ भी थी। इस बार रुक कर उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफ़ेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाए, पतलून और पाजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पाजामा और कुर्ता तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी—मूँछ विहीन, दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी, वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग कर के देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशी को चोट पहुँची, यह सोच कर मैंने अपनी नहीं को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया। 'मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई।' चीनी भी विचित्र निकला, 'हमको भाय बोला है, तुम ज़रूल लेगा, ज़रूल लेगा—हाँ?' 'होम करते हाथ जला' वाली कहावत हो गई—विवश होकर कहना पड़ा, देखूँ, तुम्हारे पास है क्या? चीनी बरामदे में कपड़े का गड्ढा उतारता हुआ कह चला, भोत अच्छा सिल्क आता है सिस्तर! चाइना सिल्क क्रेप. . . बहुत कहने सुनने के उपरांत दो मेज़पोश खरीदना आवश्यक हो गया। सोचा—चलो छुट्टी हुई, इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पंद्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठ कर गज़ को फ़र्श पर बजा—बजा कर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न दे कर, व्यस्त भाव से कहा, "अब तो मैं कुछ न लूँगी। समझे?" चीनी खड़ा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला, "सिस्तर आपका वास्ते ही लाता है, भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेट

में छिपा के लाता है।”

देखा— कुछ रूमाल थे। ऊदी रंग के डोरे भरे हुए, किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हें फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी चीनी नारी की कोमल उँगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी, जीवन के अभाव की करुण कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृत आँखों को जल्दी—जल्दी बंद करते और खोलते हुए वह एक साँस में सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है! दोहराने लगा।

मन में सोचा, अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कह कर चिढ़ाया करते थे। संदेह होने लगा, उस चिढ़ाने में कोई तत्व भी रहा होगा। अन्यथा आज एक सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़ कर मुझसे बहन का संबंध क्यों जोड़ने आता! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहाँ जब— तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के संबंध में विशेष अभिरुचि रखता है इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुंदर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफ़ेद पर्दे के कोने में किस बनावट के फूल पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था, जितनी किसी अच्छे कलाकार से मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आँखों पर पट्टी बाँध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहाँ की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा हुआ न हो। चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा' कहते—कहते चीनी की आँखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिए वह विशेष उत्सुक रहा करता था। पर कहने सुनने वाले की बीच की खाई बहुत गहरी थी। उसे चीनी और बर्मी भाषाएँ आती थीं, जिनके संबंध में अपनी सारी विद्या बुद्धि के साथ मैं 'आँख के अंधे नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेज़ी की क्रियाहीन संज्ञाओं और हिंदुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी, उसमें कथा का सारा मर्म बँध नहीं पाता था। पर जो कथाएँ हृदय का बाँध तोड़ कर दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं, प्रायः करुण होती हैं और करुणा की भाषा शब्दहीन रह कर भी बोलने में समर्थ है। चीनी फेरीवाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता पिता ने माडले (बर्मा) आकर चाय की छोटी दूकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहन के संरक्षण में छोड़ कर जो परलोक सिधारी उस अनदेखी माँ के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

संभवतः माँ ही ऐसी प्राणी है जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है जैसे उसके संबंध में जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बाँधने वाला विधाता माता ही है, इसी से उसे न मान कर संसार को न मानना सहज है। पर संसार को मानकर उसे न मानना असंभव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहणी पद पर अभिसिक्त किया तब उन मातृहीनों की यातना की कठोर कहानी आरंभ हुई। दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका क्यों कि उसके पाँचवें वर्ष में पैर रखते-रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोए।

अब अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया पर बहन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो

वैमनस्य बढ़ रहा था वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी-बालिका की अवज्ञा का बदला उसको नहीं उसके अबोध भाई को कष्ट देकर भी चुकाया जाता था। अनेक बार उसने ठिटुरती हुई बहन की कंपित उँगलियों में अपना हाथ रख उसके मलिन वस्त्रों में अपना आँसुओं से धुला मुख किया और उसकी छोटी-सी गोद में सिमट कर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सवेरे आँख मूँद कर बंद द्वार के बाहर दिवार से टिकी हुई बहन को ओस से गीले बालों में अपनी ठिटुरती हुई उँगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आने वाले आँसू की बड़ी बूँद देख कर वह घबरा कर बोल उठा था- उसे कहवा नहीं चाहिए, वह तो पिता को देखना भर चाहता है।

कई बार पड़ोसियों के यहाँ रकाबियाँ धोकर और काम के बदले भात माँग कर बहन ने भाई को खिलाया था। व्यथा की कौन-सी अंतिम मात्रा ने बहिन के नन्हें हृदय का बाँध तोड़ डाला, इसे अबोध बालक क्या जाने! पर एक रात उसने बिछौने पर लेटकर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह मैली-कुचैली बहन का कायापलट करते हुए देखा। उसके सूखे ओठों पर विमाता की मोटी उँगली ने दौड़-दौड़ कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूम कर सफ़ेद गुलाबी रंग भरा, उसके रुखे बालों को कठोर हाथों ने घेरे-घेर कर सँवारा और तब नए रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अंधकार में बाहर अंतरनिहित हो गई।

बालक का विस्मय भय में बदल गया और भय ने रोने में शरण पायी। कब वह रोते-रोते सो गया इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा तो बहन उस गठरी बने हुए भाई के मस्तक पर मुख रख कर सिसकियाँ रोक रही थी। उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला दूसरे दिन कपड़े तीसरे दिन

खिलौने- पर बहन के दिनों-दिन विवर्ण होने वाले होंठों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़ने वाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा।

बहिन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था, पर वह किससे कहे, क्या करे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी। बार-बार सोचता था पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता। उसके स्मृति-पट पर माँ की कोई रेखा नहीं परंतु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था उनके स्नेहशील होने में संदेह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चित करता कि दुकान में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुँचेगा और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा- तब यह विमाता कितनी डर जाएगी और बहन कितनी प्रसन्न होगी। चाय की दुकान का मालिक अब दूसरा था, परंतु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसी से बालक एक कोने में सिकुड़ कर खड़ा हो गया और आने वालों से हकला हकला कर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये, पर एक दो ने दुकानदार से कुछ ऐसी बात कही जिससे वह बालक को हाथ पकड़ कर बाहर ही छोड़ आया। इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दंड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अंत हो गया।

बहिन का संध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीर वाली विमाता का जंगली बिल्ली की तरह हल्के पैरों से बिछौने से उछल कर उतर आना, बहन के शिथिल हाथों से बटुए का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रख कर स्तब्ध भाव से पड़े रहना आदि क्रम ज्यों के त्यों चलते रहे।

पर एक दिन बहिन लौटी ही नहीं। सवेरे विमाता को कुछ चिंतित भाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहिन- उसकी

एकमात्र आधार बहन! पिता का पता न पा सका और अब बहन भी खो गई। जैसा था वैसा ही बहन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा। रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था इससे वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाती देखता उसके पास पहुँचने के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकरा कर गिरते-गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता- “क्या इतना ज़रा-सा लड़का भी पागल हो गया है?”

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी शिक्षा आरंभ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊँची कर खड़ा होना, मुँह पर पंजे रख कर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं उसी तरह वे सब उसे तंबाकू के धुएँ और दुर्गंध मांस से भरे और फटे चीथड़े, टूटे बर्तन और मैले शरीर से बसे हुए कमरे में बंद कर कुछ विशेष संकेतों और हँसने रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हँसने रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता। पर क्रंदन उसके भीतर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि ज़रा मुँह के बनाते ही दोनों आँखों से दो गोल-गोल बूँदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानांतर रेखा बनाती और मुँह के दोनों सिरों को छूती हुई टुड्डी के नीचे तक चली जातीं। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझ कर रोओं से काले उदर पर पीला-सा रंग बाँधने वाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उठ कर उसे लात जमा कर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी, स्यामी आदि का सम्मिश्रण था। इसी से ‘चोरों की बारात में अपनी अपनी होशियारी’ के सिद्धांत का पालन बड़ी सतर्कता से

हुआ करता। जो उसपर कृपा रखते थे उनके विरोधियों का स्नेहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर संदेह की ऐसी दृष्टि आरंभ होती कि बिना चुराए ही वह चोर के समान काँपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती कि उसका स्मरण कर के चीनी की आँखें आज भी व्यथा और अपमान से भक भक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े बर्तन में सिगार से जगह जगह जले हुए कागज़ से ढक कर रख दिया जाता था जिसे वह हरी आँखों वाली बिल्ली के साथ खाता था।

बहुत रात गए तक उसके नरक के साथी एक-एक कर आते रहते और अंगीठी के पास सिकुड़ कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरों को जल्दी-जल्दी रखता आता है उसे बहुत कुछ मिल गया है। जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता वह खाली हाथ है। जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है। जो दहली से ठोकर खाकर धम धम पैर रखता हुआ घुसता है उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है, आदि का ज्ञान उसे अनजान में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षान्त-संस्कार के उपरांत विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से नहीं हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का अंत क्या होता यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बाँधते-बाँधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज़ से इस तरह नापना कि जो रत्ती बराबर भी आगे न बढ़े, चाहे अँगुल भर पीछे रह जाय। रुपए से ले के पाई तक को खूब देख भाल कर लेना और लौटाते

समय पुराने, खोटे पैसे विशेष रूप से खनखा-खनका कर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दुकान में सोने की व्यवस्था होने से अंगीठी के पास ठोकरोँ से पुरस्कृत होने की विशेषता जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन संचय से संबंध रखने वाली सभी विद्याएँ एक-सी हैं, पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपा कर।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहन को ढूँढ़ने का बहुत प्रयत्न किया पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं। कभी वे निराश हो कर आत्महत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी संभवतः पुर्नविवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिये कहीं दूर चली गयी थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बंद हो गया।

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया फिर दो वर्ष कलकत्ता में रहा और अन्य साथियों के साथ उसे इसी ओर आने का आदेश मिला। यहाँ शहर में एक चीनी जूते वाले के घर ठहरा है और सवेरे आठ से बारह और दो से छे बजे तक फेरी लगा कर कपड़े बेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छाएँ हैं, ईमानदार बनने की और बहन को ढूँढ़ लेने की-जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच-बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था, पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। इस प्रकार देखते-देखते मैं इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर

का वास्ते' कह कर और शब्दों की खोज करने लगा तब मैं उसकी कठिनाई न समझ कर हँस पड़ी। धीर-धीरे पता चला- बुलावा आया है, यह लड़ने के लिए चाइना जाएगा। इतनी जल्दी कपड़े कहाँ बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुँचा कर बेईमान कैसे बने? यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूँ, तो वह मालिक का हिसाब चुका कर तुरंत देश की ओर चल दे।

किसी दिन पिता का पता पूछे जाने पर वह हकलाया था- आज भी संकोच से हकला रहा था। मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिए प्रश्न किया, तुम्हारे तो कोई है ही नहीं, फिर बुलावा किसने भेजा? चीनी की आँखें विस्मय से भर कर पूरी खुल गई- हम कब बोला हमारा चाइना नहीं है? हम कब ऐसा बोला सिस्तर? मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आई, उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा!

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपए की चर्चा ही क्या! पर कुछ अपने पास खोज ढूँढ़ कर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबंध किया। मुझे अंतिम अभिवादन कर जब वह चंचल पैरों से जाने लगा, तब मैंने पुकार कर कहा, "यह गज तो लेते जाओ!" चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर 'सिस्तर का वास्ते' ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गए।

और आज कई वर्ष हो चुके हैं- चीनी को फिर देखने की संभावना नहीं। उसकी बहन से मेरा कोई परिचय नहीं, पर न जाने क्यों वे दोनों भाई-बहन मेरे स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी की गठरी में से कई थान में अपने ग्रामीण बालकों के कुर्ते बना-बना कर खर्च कर चुकी हूँ परंतु अब भी तीन थान मेरी अलमारी में रखे हैं और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देख कर एक खादी भक्त बहन ने आक्षेप किया था - जो लोग बाहर विशुद्ध खद्वरधारी

होते हैं वे भी विदेशी रेशम के थान खरीद कर रखते हैं, इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती- तब मैं बड़े कष्ट से हँसी रोक सकी।
वह जन्म का दुखियारा मातृ पितृ हीन और बहन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुँचने का आत्मतोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं- पर मेरा मन यही कहता है।

3. अतिथि! तुम कब जाओगे

—शरद जोशी

तुम्हारे आने के चौथे दिन, बार-बार यह प्रश्न मेरे मन में उमड़ रहा है, तुम कब जाओगे अतिथि! तुम कब घर से निकलोगे मेरे मेहमान!

तुम जिस सोफे पर टांगें पसारे बैठे हो, उसके ठीक सामने एक कैलेंडर लगा है जिसकी फड़फड़ाती तारीखें मैं तुम्हें रोज दिखा कर बदल रहा हूँ। यह मेहमाननवाजी का चौथा दिन है, मगर तुम्हारे जाने की कोई संभावना नजर नहीं आती। लाखों मील लंबी यात्रा कर एस्ट्रॉनॉट्स भी चांद पर इतने नहीं रुके जितने तुम रुके। उन्होंने भी चांद की इतनी मिट्टी नहीं खोदी जितनी तुम मेरी खोद चुके हो। क्या तुम्हें अपना घर याद नहीं आता? क्या तुम्हें तुम्हारी मिट्टी नहीं पुकारती?

जिस दिन तुम आए थे, कहीं अंदर ही अंदर मेरा बटुआ कांप उठा था। फिर भी मैं मुस्कराता हुआ उठा और तुम्हारे गले मिला। मेरी पत्नी ने तुम्हें सादर नमस्ते की। तुम्हारी शान में ओ मेहमान, हमने दोपहर के भोजन को लंच में बदला और रात के खाने को डिनर में। हमने तुम्हारे लिए सलाद कटवाया, रायता बनवाया और मिठाइयां मंगवाईं। इस उम्मीद में कि दूसरे दिन शानदार मेहमाननवाजी की छाप लिए तुम रेल के डिब्बे में बैठ जाओगे। मगर, आज चौथा दिन है और तुम यहीं हो। कल रात हमने खिचड़ी बनाई, फिर भी तुम यहीं हो। आज हम उपवास करेंगे और तुम यहीं हो तुम्हारी उपस्थिति यूं रबर की तरह खिंचेगी, हमने कभी सोचा न था।

सुबह तुम आए और बोले, 'लॉन्ड्री को कपड़े देने हैं।' मतलब? मतलब यह कि जब तक कपड़े धुल कर नहीं आएंगे, तुम नहीं जाओगे? यह चोट मार्मिक थी, यह आघात अप्रत्याशित था।

मैंने पहली बार जाना कि अतिथि केवल देवता नहीं होता। वह मनुष्य और कई बार राक्षस भी हो सकता है। यह देख मेरी पत्नी की आंखें बड़ी-बड़ी हो गईं। तुम शायद नहीं जानते कि पत्नी की आंखें जब बड़ी-बड़ी होती हैं, मेरा दिल छोटा-छोटा होने लगता है।

कपड़े धुल कर आ गए और तुम यहीं हो। पलंग की चादर दो बार बदली जा चुकी और तुम यहीं हो। अब इस कमरे के आकाश में ठहाकों के रंगीन गुब्बारे नहीं उड़ते। शब्दों का लेन-देन मिट गया। अब करने को को चर्चा नहीं रही। परिवार, बच्चे, नौकरी, राजनीति, रिश्तेदारी, पुराने दोस्त, फिल्म, साहित्य। यहां तक कि आंख मार-मार कर हमने पुरानी प्रेमिकाओं का भी जिक्र कर लिया। सारे विषय खत्म हो गए। तुम्हारे प्रति मेरी प्रेमभावना गाली में बदल रही है। मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि तुम कौन सा फेविकॉल लगा कर मेरे घर में आए हो?

पत्नी पूछती है, 'कब तक रहेंगे ये?' जवाब में मैं कंधे उचका देता हूं। जब वह प्रश्न पूछती है, मैं उत्तर नहीं दे पाता। जब मैं पूछता हूँ, वो चुप रह जाती है। तुम्हारा बिस्तर कब गोल होगा अतिथि?

मैं जानता हूँ कि तुम्हें मेरे घर में अच्छा लग रहा है। सबको दूसरों के घर में अच्छा लगता है। यदि लोगों का बस चलता तो वे किसी और के घर में रहते। किसी दूसरे की पत्नी से विवाह करते। मगर घर को सुंदर और होम को स्वीट होम इसीलिए कहा गया है कि मेहमान अपने घर वापिस लौट जाएँ।

मेरी रातों को अपने खर्चों से गुंजाने के बाद अब चले जाओ मेरे दोस्त! देखो, शराफत की भी एक सीमा होती है और गेट आउट भी एक वाक्य है जो बोला जा सकता है।

कल का सूरज तुम्हारे आगमन का चौथा सूरज होगा। और वह मेरी सहनशीलता की अंतिम सुबह होगी। उसके बाद मैं लड़खड़ा जाऊँगा। यह सच है कि

अतिथि होने के नाते तुम देवता हो, मगर मैं भी आखिर मनुष्य हूँ। एक मनुष्य ज्यादा दिनों देवता के साथ नहीं रह सकता। देवता का काम है कि वह दर्शन दे और लौट जाए।

तुम लौट जाओ अतिथि। इसके पूर्व कि मैं अपनी वाली पर उतरूँ, तुम लौट जाओ।

उफ! तुम कब जाओगे, अतिथि।

4. कूर्माचल में कुछ दिन

- धर्मवीर भारती

हिमालय की बर्फीली चोटियों की छाँव में फूल, फल, झरने और बंगलों वाले कूर्माचल का नाम लेते ही मेरी आँखों के आगे रामगढ़ की एक शाम धुँधली तस्वीर की तरह खिंच जाती है। एक बहुत ऊँची, वनाच्छादित पर्वत-श्रृंखला के इस बाजू में मीलों लंबा एक फलों का बगीचा है। सुनहले, हरे, पीले, सिंदूरी और गुलाबी सेबों से लदे हुए पेड़ों की कतारें पार कर हम उस बंगले में जा पहुंचे हैं, जिसमें महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने कूर्माचल-प्रवास के कुछ दिन बिताए थे। बस की सड़क सैकड़ों फीट नीचे मटियाले साँप की तरह घाटियों और जंगलों में रेंगती-सरकती चली जा रही है, सड़क के भी सैकड़ों फीट नीचे रामगढ़ के घरों की टीन वाली छतें दीख रही हैं, और उनमें चलते-फिरते लोग चींटियों की तरह लग रहे हैं, और धीरे-धीरे धनुषाकार होता हुआ जा रहा है। बंगले के सामने के लॉन में बेंत की खूबसूरत हरी कुर्सियाँ डाल दी गई हैं और बगीचे के मैनेजर ने चाय बनवाकर मंगाई है।

8000 फीट की ऊंचाई पर चाय की उस मेज पर हर तरह के लोग। मैनेजर... जो बता रहा कि इन पहाड़ियों में कौन से फल और उग सकते हैं? कौन से उद्योग चल सकते हैं? इससे देश को क्या आय हो सकती है? मेरे एक मित्र, जो बता रहे हैं कि वे एक दिन में 32 मील चलकर मुक्तेश्वर गए और लौट आए, राह में भूख लगने पर वे दर्जनों पराठे खा गए, क्योंकि पहाड़ों का घी भी बहुत शुद्ध होता है। मेरी पत्नी, जिसे दुःख है कि सूरज डूब गया, अब उसका कैमरा बेकार है और मन में सोच रही है कि काश इन पहाड़ों पर सेब की जगह हरी मिर्ची के बगीचे होते। आर्जटाइना का एक साधु... जो आत्मा की अमरता, हिमालय का आध्यात्मिक प्रभाव, अनेकता में एकता और वेदांत की माया पर

कुछ चिर-परिचित बातें कर रहा है। इन भाँति-भाँति के लोगों के बीच...चुप! कुछ-कुछ सहमा-सा...कुछ मंत्रमुग्ध...बार-बार उधर देखता हुआ जिधर हिमालय की मुख्य हिमवती चोटियाँ बादल और धुंधलके में छिपी हुई हैं, जो सिर्फ एक शाम में अकस्मात् चमक उठी थीं। बादलों का अवगुंठन उठा कर रामगढ़ के उत्तर में बर्फ के फूलों के धनुष की तरह अर्द्धवृत्ताकार में फैल गई थीं। उस दिन से बादलों में जो छिपीं तो फिर दीखी नहीं...पर मन में जाने कैसी प्यास भर गई। वहाँ उन सेबों के बीच बैठा हुआ भी, मैं वहाँ नहीं था, उन्हीं अदृश्य घाटियों में भटक रहा था, उन्हीं खोयी हुई श्रृंखलाओं की ओर चला जा रहा था...बिल्कुल अकेला, जाने किस जादू से सब कुछ जैसे एक प्रतीक में बदल गया था। जिंदगी के गर्द-गुबार और धुंधलके को चीर कर वह कौन-सी ऊंचाइयाँ हैं, जो अकस्मात् चमक कर फिर छिप जाती है और मेरा मन अकुला उठता है, उनकी ओर चल पड़ता है एक निरंतर अनथक यात्रा...चरैवेति चरैवेति...चलते चलो, चलते चलो। उस दिन, उस दिन हिमालय मुझे अपना चिर-परिचित लगा था, जिसे मैं जाने कब से ढूँढ़ रहा था, जो यहाँ भूमि पर उदित होने से पूर्व जैसे मेरे मन की गहराईयों में, अंतराल में सोया पड़ा था और जब से वे हिमालय की चोटियाँ यहाँ उग आईं, तब से मन का वह हिस्सा रिक्त पड़ा है, खाली पड़ा है और तभी से वह हिमालय को खोज रहा है कि उसकी रिक्तता, उसका खालीपन फिर भरा-भरा-सा हो जाये।

चाय के प्याले खटकते हैं और उधर काला खान के जंगलों में एक चिड़िया निरंतर रट लगाने लगती है...जुहो! जुहो! जुहो! इस दर्द भरी पुकार से हम सब परिचित हैं। ताकुला की गहरी घाटियों में उगे बाँझ के वनों में, कौसानी के झरनों पर, कल्यूर में गोमती के किनारे यह पुकार हर यात्री को सुनाई पड़ती है। यह चिड़िया बराबर बोलती है- जुहो! जुहो! जुहो! हमारी उत्सुकता देखकर मैनेजर ने बताया कि इस पक्षी के बारे में एक मार्मिक लोककथा

कूर्माचल में प्रचलित है। कहते हैं कि किसी जमाने में एक अत्यंत रूपवती पहाड़ी कन्या थी, जो वर्द्धस्वर्ध की लूसी की तरह झरनों के संगीत, वृक्षों के मर्मर और घाटियों की प्रतिध्वनियों पर पली थी, लेकिन उसका पिता गरीब था और लाचारी में उसने अपनी कन्या मैदानों में ब्याह दी, वे मैदान जहाँ सूरज आग की तरह तपता है, जहाँ झरनों और बंगलों का नामो-निशान नहीं, जहाँ भूखे अजगरों की तरह धधकती लूँ आदमी को साबित निगल जाती हैं। प्रियतम के स्नेह की छाया में वर्षा और सर्दी तो किसी तरह कट गए पर सूर्य के उत्तरायण होते ही वह अकुला उठी। उसने नैहर जाने की प्रार्थना की। पर सास और ननद ने इनकार कर दिया। वह धूप में तपे गुलाब की तरह मुरझाने लगी। श्रृंगार छूटा, वेशविन्यास छूटा, खाना-पीना छूट गया। अंत में सास ने कहा, अच्छा कल तुम्हें भेज देंगे। सुबह हुई...उसने आकुलता से पूछा... 'जुहो' ? (जाऊँ)। सास ने कहा... 'भोल जाला (कल सुबह जाना)।' वह और भी मुरझा गई। एक दिन किसी तरह कटा। दूसरे दिन उसने पूछा 'जुहो' ? सास फिर बोली- 'भोल जाला'। रोज वह अपना सामान सँवारती। प्रिय से विदा लेती और पूछती... 'जुहो' ? रोज सास नाराज होकर मुँह फेर कर कहती... 'भोल जाला'। एक दिन जेठ का दसतपा लग गया, धरती धूप से चटखा गई, वृक्षों पर चिड़ियाँ लू खाकर गिरने लगीं। वधू ने फिर हाँफते हुए सूखे गले से अंतिम बार सास से पूछा... 'जुहो' ? सास ने पंखे की डंडी से पीठ खुजाते हुए कहा... 'भोल जाला'। फिर वह कुछ नहीं बोली। शाम को एक वृक्ष के नीचे वह अचेतन पड़ी हुई मिली, प्राणहीन ! गरमी से काली पड़ गई थी। वृक्ष की डाली पर एक चिड़िया बैठी थी, जो गरदन हिलाकर बोली... 'जुहो' ? और उत्तर की प्रतीक्षा न कर नन्हें-नन्हें पंख फैलाकर कूर्माचल की ओर उड़ गई। मैनेजर ने चाय का प्याला रखते हुए कहा-तब से आज तक कूर्माचल के जंगलों में एक चिड़िया दर्द भरे स्वर में बार-बार पूछती है- जुहो? जुहो? जुहो? और फिर एक कर्कश पक्षी-स्वर सुन पड़ता है- 'भोल

जाला'। और फिर वह चिड़िया चुप हो जाती है। एक बेबसी की चुप। हम लोगों ने 'भोल जाला' का स्वर नहीं सुना, पर कुछ देर निरंतर रट के बाद वह चिड़िया अपने-आप चुप हो गई। उसका दर्द हमें बहुत गहरे छू गया। ऐसे घाव तो हम सबों के मन में हैं न, पता नहीं किन हरियाली घाटियों के वासी हमारे प्राण उन अपरिचित निर्मम परिस्थितियों की सीमा में बँधे, परदेश में भटक-से रहे हैं और उसी सुदूर के प्यासे हैं, वह सुदूर हमें बार-बार बुलाता है, और हम पूछते हैं-जुहो ? और हमारी विवशताएँ, हमारे बंधन, हमारी सीमाएँ कर्कश स्वर में कहती हैं-'भोल जाला'। और हम चुप हो जाते हैं। पर वह प्यास तो चुप नहीं होती। वह रटती जाती है... जुहो! जुहो! जुहो! हम रवीन्द्र ठाकुर के बंगले में सामने बैठे थे और मैं सोच रहा था कहीं ऐसे ही किसी क्षण में तो रवीन्द्र ने मर्माहत होकर नहीं कहा था :

“आमि चंचल है

आमि सुदूरेर पियासी!

दिन चले जाये, आभि आनमने

तारि आशा चेये था कि वातायने।।”

और इसी प्यास से व्याकुल होकर कूर्माचल के इस सुकुमार कवि पंत ने कहा था :

“क्या मेरी आत्मा का चिरधन

मैं रहता नित उन्मन-उन्मन।

क्या उसकी आत्मा का चिरधन

स्थिर अपलक नयनों का चिंतन,

क्या खोज रहा है वह अपनापन ?

कालिदास से लेकर सुमित्रानंदन पंत तक हिमालय भारतीय कवि की आत्मा में बराबर यह प्यास जगाता रहा है। कूर्माचल हिमालय का द्वार है। कूर्माचल

के पहाड़ों से दीखने वाला हिमालय पता नहीं कैसे अपने-आप खींचने लगता है। इस अजीब से आर्कषण को सबसे पहले मैंने कौसानी में अनुभव किया। मझकाली के खतरनाक मोड़ और अल्मोड़े की सूखी नीरस घाटी में होते हुए, कोसी पार कर सोमेश्वर की हरी उपजाऊ घाटियों से लेकर जब हम कौसानी पहुंचे तो लगभग निराश-से थे। महात्मा गांधी ने अपने जीवन के कुछ अत्यंत रमणीय दिन यहाँ बिताए थे, और उन्होंने इस स्थान की तुलना स्विट्जरलैण्ड से की थी। हम लोगों को चारों ओर कोसी की घाटी दीख रही थी पर उसमें क्या ऐसी विशेषता थी? थोड़ा और आगे बढ़े। चढ़ाई शुरू हुई। बस का अड्डा आया और हम उतर पड़े। वह सामने सहसा क्या दीख पड़ा? बादल धीरे-धीरे हट रहे थे और त्रिशूल का गगनभेदी शिखर उदित हो रहा था। तीसरे पहर के सूरज की सुनहरी धूप उन श्रृंखलाओं के शिखरों और गहरों पर अजब रहस्यमय ढंग से बिखर रही थी। अभी केवल एक शिखर दीख रहा था। लगभग तीस-चालीस मील दूर होगा, पर लग रहा था जैसे वह सामने खड़ा है, बिल्कुल हमारे माथे पर झुका हुआ। कभी-कभी तो लगता था कि अनंत काल से उस शिखर पर जमी हुई बर्फ की ठंडी-ठंडी भाप हमारे माथे को आशीर्वाद की तरह स्पर्श कर रही है। नयन, मन, प्राण-बंध जाने की बात सुनी थी पर अनुभव उसी दिन हुआ। लगा जैसे हमारी चेतना का कोई अंश ऐसा जरूर है, जो धरती के कठोर यथार्थ से हमें ऊपर की ओर उठा रहा है, वहाँ जहाँ अनंत काल से शुभ्र श्वेत हिम जमा हुआ है। इन्हीं शिखरों को शंकराचार्य ने देखा था, इन्हीं में कालिदास भटके थे, इन्हीं में विवेकानंद ने आत्म-साक्षात्कार किया था। क्या यह केवल भ्रम था? फिर मैं इस समय यह क्या महसूस कर रहा हूँ? एक अलौकिक शांति, और एक-दूर से आती हुई पुकार, जो इन हिमशिखरों के रहस्यमय वातावरण में मुझे बुला रही है। उस एक क्षण में मुझे जैसे असीम और अनंत में आस्था होने लगी। लगा, जैसे मेरे अस्तित्व का चरम साफल्य हिमालय की ऊँचाइयों से जरूर मेल खाता

है। मुझे लगा, जैसे मेरा वास्तविक व्यक्तित्व वही है, यहाँ तो जैसे मैं छद्मवेष धारण कर आपद्धर्म का जीवन बिता रहा हूँ। एक दिन यह सब नीचे छोड़कर उन्हीं ऊँचे शिखरों पर जाना है। यह, जो मैं आजकल जी रहा हूँ, यह तो उस यात्रा की तैयारी मात्र है। कब वह बेला आएगी, जब पूछूँगा...जूहो ? जाऊँ ? और फिर उस समय कोई भी मेरी यात्रा कल के लिए स्थगित न कर सकेगा, मैं अपने नन्हें पंख खोलकर आकाश नापता हुआ इन्हीं ऊँचाइयों की ओर उड़ूँगा।

कूर्माचल में बीते हुए बाकी दिनों में भी यही प्यास अपने को दोहराती रही। कल्यूर की घाटी में श्वेत पत्थरों पर बहती हुई गोमती में जब मैं जी भरकर नहाया, डुमलोट के रास्ते में चीड़ और रोडोडेंड्रन के घने जंगलों में जब मैं भटकता फिरा, घनी अंधेरी रातों में नैनीताल की सुन्दर झील में हरी, नीली बस्तियों के प्रतिबिंबों पर से जब अपनी नाव खेता फिरा, ताकुला में घने बादलों से घिरकर जब नन्हें फुहारों से भीगता रहा, तब बराबर महसूस करता रहा कि ये कुछ सौभाग्यशाली दिन हैं, जब हम अपने जीवन को गहरे स्तरों पर जीते हैं, जब हमें जीवन की परिधि असीम मालूम पड़ती है और हमें अपने अस्तित्व के नए और गहरे अर्थ मिलते हैं। किसी भी कलाकार के लिए इस प्यास को भूल जाना घातक होता है। हिमालय ने वह प्यास फिर कुरेद दी। इसके लिए मैंने चरम आभार के उस क्षण में मन-ही-मन उसे प्रणाम किया था, और अब भी जब उसका ध्यान आता है, मेरा सर कृतज्ञता से नत हो जाता है।

5. धारणा बनाने में जल्दबाजी क्यों?

- मृदुला सिन्हा

किसी व्यक्ति, परिवार अथवा संस्था से एक बार मिलना हुआ और आपने उसके प्रति अपने मन में एक निश्चित धारणा बना ली- इसे अपने ही तक सीमित नहीं रखा वरन् अन्य लोगों के बीच प्रसारित करते रहे- "वह बहुत कंजूस है", "राजू मितभाषी है", "शोभा बड़ी दुष्टा है; वह परिवार ईष्यालु है", "अमुक संस्था बेकार है।" व्यक्ति, परिवार अथवा संस्था के प्रति एक मुलाकात में बनी आपकी राय की पृष्ठभूमि में ही आपके मित्र भी उनसे मिलने लगते हैं। उन्हें भी वैसा ही कुछ दिखता है जैसा आपने वर्णन किया था। समाज में ऐसे लोग भी अवश्य हैं जो व्यक्ति अथवा संस्था के प्रति अपने अनुभव के आधार पर धारणा बनाते हैं। अधिकांश लोगों को कहीं इतनी फुर्सत है कि मिलने-जुलने वालों के प्रति अपनी अलग धारणा बनाने की पहल करें। दूसरों से जो सुना उसी भावभूमि में उस व्यक्ति से मिल लिए।

जहाँ तक किसी व्यक्ति के प्रति धारणा बनाने की बात है- आपसे मिलते समय उसके व्यक्तित्व का एक पक्ष ही उजागर होता है। पता नहीं उस वक्त आपकी मनःस्थिति कैसी रही हो। आपकी मनःस्थिति का बड़ा महत्व है, क्योंकि धारणा आपके मस्तिष्क में अवस्थित होती है। संभव है आप किसी पूर्वाग्रह के वशीभूत हो कर उससे मिल रहे हों। अब पूर्वाग्रह तो वह रंगीन चश्मा है जिसे पहन लेने पर सामने का दृश्य भी उसी रंग का दिखता है जैसा उस शीशे का रंग होगा। माना कि आप पूर्वाग्रही नहीं रहे हों पर आपसे मिलते वक्त उस व्यक्ति की मनःस्थिति का महत्व तो होगा ही, जिसके वशीभूत उसका विशेष प्रकार का व्यवहार प्रकट हुआ।

दरअसल मनुष्य का व्यक्तित्व बड़ा ही जटिल है। कहीं वह जरूरत से ज्यादा सरल, कहीं कंजूस, कहीं जिंदादिल, कहीं मनहूस, कहीं फिजूलखर्च, कहीं दुष्ट

और कहीं सहृदय दिखता है। व्यक्तित्व के इन गुणों का प्रकटीकरण उसके व्यवहार के माध्यम से होता है। परंतु किसी व्यक्ति का व्यवहार मात्र वैयक्तिक गुणों पर आधारित नहीं होता, अपितु बाहरी परिस्थिति तथा उस व्यक्ति की मनःस्थिति के साथ ही मिलने वाले के व्यवहार पर उस व्यक्ति का विशेष व्यवहार निर्भर करता है। आपने एक बार उसे क्रोध प्रकट करते देखा और क्रोधी मान बैठे, तो यह बहुत बड़ी भ्रांति होगी।

मनुष्य व्यवहार का चिंतन मेरी अभिरुचि रही है। स्त्री-पुरुषों के व्यवहार के विभिन्न पहलुओं पर सोचती रही हूँ। अनुभव के आधार पर मेरा मत बना है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति धारणा बनाने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। बहुत से लोग तो व्यक्ति के व्यवहार पर भी दृष्टिपात नहीं करते। मात्र किसी व्यक्ति का देख कर ही उसके स्वभाव के बारे में एक धारणा बना लेते हैं। परंतु इस प्रकार एक दृष्टि में धारणाएँ बना लेना प्रायः उचित नहीं होता।

श्रीमान 'क' को देखिए। वे अत्यंत मनहूस दिखते हैं, परंतु उनसे मुलाकात के दौरान अल्प समय में ही उनके मुख से हँसी के जो फुहारे झड़ने लगते हैं, वे पूरे परिवेश को अपने में लपेट सुखद बना देते हैं। ठीक इसके विपरीत श्रीमती 'ख' के सुंदर चेहरे पर भोलेपन का स्थायी गाढ़ा लेप चढ़ा है पर व्यवहार में वह उतनी ही कड़वी और नीरस हैं। दुनिया भर के छल-छद्म से भरपूर उनका व्यक्तित्व देखने-सुनने और मिलने वालों को अचंभे में डाल देता है।

जिन व्यक्तियों से आपका चौबीस घंटे का संपर्क होता है क्या वे कभी सरल और कभी बहुत छली नहीं लगते? यहाँ तक की पति-पत्नियों के बीच भी धारणाओं की यह आँख-मिचौली जीवन-पर्यंत चलती रहती है। आप अच्छे 'मूड' में हैं तो पत्नी का रूखा व्यवहार भी आपको सहला जाता है। आप किसी कारण चिढ़े होते हैं तो उनकी प्यार भरी बातें भी कड़वी लगती है। विभिन्न परिस्थितियों में पारिवारिक रिश्तों के बीच भी एक-दूसरे को चोंकाने

वाले व्यवहार परिलक्षित होते रहते हैं। पति-पत्नी एक-दूसरे को कहते सुने जाते हैं-“तुम्हें मैं आज तक नहीं समझ पाया?” जी हाँ ! मनुष्य को समझना इतना ही कठिन है।

समाज में लोग परिवारों, संस्थाओं, धर्मों व जातियों के प्रति निश्चित धारणाएँ बना कर बैठे हैं। यह आवश्यक नहीं कि धारणा, धारण करने वालों का सीधा संपर्क उन संस्थाओं के लोगों से हुआ हो बल्कि अक्सर सुनी-सुनाई प्रचलित धारणाओं के आधार पर अपना मत बना कर ही तदनुसार उस संस्था अथवा जाति-धर्म के लोगों से व्यवहार भी करते रहते हैं। अमुक जाति के लोग बड़े कंजूस होते हैं, अमुक जाति के धूर्त, अमुक जाति के लोग मक्कार और अमुक जाति के लोग उद्यमशील होते हैं- जैसी बातें अक्सर सुनने में आती रहती हैं। आवश्यक नहीं कि उस जाति अथवा धर्म के लोगों से मिलने-जुलने पर वे वैसा ही व्यवहार करें जैसा आपने सुन रखा था। आज जब समाज में जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है, प्रचलित जातीय गुण-दोष भी समाप्त होने चाहिए। पर आप हैं कि सदियों से चली आ रही धारणा ढो रहे हैं। सहज भाव से आप विभिन्न जाति-धर्मों के लोगों से मिलते ही नहीं तो वे सहज व्यवहार करें तो कैसे? अनुभव बताता है कि व्यक्ति, परिवार, संस्था अथवा विभिन्न जाति-धर्मों के लोगों से निकट संबंध स्थापित होने पर उधार ली हुई धारणाएँ अक्सर बदल जाती रही हैं।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विभिन्न देशों के बारे में धारणाएँ फैली हुई हैं- हिंदुस्तानी ऐसे होते हैं, अमेरिकन वैसे, अंग्रेजों में यह गुण है तो अफ्रीकियों में वह गुण। माना कि हर राष्ट्र का एक चरित्र होता है जो उस राष्ट्र के व्यक्तियों में कमोबेश मात्रा में आ जाता है, परंतु आज के संदर्भ में क्या एक अंतर्राष्ट्रीय चरित्र नहीं उभर रहा? साथ ही पूर्वाग्रह त्याग कर उदारता से विचार करने पर क्या राज्य और राष्ट्र की परिधि त्याग कर सबके सब मानवीय परिधि में नहीं आ जाते?

ऐसी स्थिति में किसी पड़ोसी अथवा सहयोगी से एक ही मुलाकात अथवा उधार ली हुई मान्यता के आधार पर अपनी एक निश्चित धारणा बनाना कहाँ तक न्यायसंगत होगा ?

विभिन्न लोगों को पश्चाताप करते सुना जाता है, “मैं अमुक व्यक्ति से बहुत दिनों तक कटता रह। किसी ने कह दिया था कि वह बड़ा दुष्ट है। अब जब मिला तो पाया कि वह तो बड़ा ही सरल, सहृदय और मिलनसार है।”

“मैं राजनीति में उतरे लोगों से मिलता नहीं था। मेरी धारणा थी कि वे बड़े धूर्त, चालाक और खुदगर्ज होते हैं। इधर कई राजनीतिज्ञों से मिला हूँ तो वे मेरी धारणा के बिल्कुल विपरीत उतरे।”

“अमुक जाति के लोगों से मैं दूर ही रहता था; मिलने-जुलने पर लगा कि किसी कारण से बनी मेरी धारणा गलत थी।”

किसी व्यक्ति अथवा संस्था के प्रति धारणा बनाने में जल्दबाजी न करें। किसी कारण एक धारणा बन भी गई तो उसे बदलने का प्रयत्न करना स्वयं आपके लिए भी हितकर होगा।

6. भटकन

—शैल रस्तोगी

—: पात्र—परिचय :—

कला : दिवाकर की पत्नी

दिवाकर : कला का पति

नीरू : दिवाकर की पुत्री

मनुज : दिवाकर का पुत्र

रमेसर : नौकर

(एक बड़ा आँगन है। सामने की ओर कुछ गमले रखे हुए हैं। साइड में दाईं ओर एक चौकी पड़ी है। चौकी के आगे तीन कुर्सियाँ, एक मेज़ बेतरतीबी से पड़ी हुई है। सामने एक दरवाज़ा है जो रसोई में खुलता है। दोनों ओर दो द्वार हैं; एक बाहर जाने के लिए है और दूसरा कमरे में खुलता है। आगे की ओर पीढ़े पर अखबार खुला पड़ा है। कुर्सियों की पीठ पर भी कुछ पड़ा हुआ है, किसी पर तौलिया, किसी पर कमीज़—बनियान आदि।

पर्दा खुलता है। रसोई से कला हाथ में ट्रे लिए प्रवेश करती है और मेज़ पर लाकर रख देती है।)

समय : प्रातः लगभग 9-10 बजे के बीच का है, जाड़े के दिन हैं।

कला : कहाँ गए फिर? बार-बार चाय बनाने को कहते हो और गुम हो जाते हो। जाड़ों में चाय यूँ ही ठंडी हो जाती है। (कमरे के द्वार की ओर झाँककर) भला, यहाँ क्या करने लगे? (अँगड़ाई लेते हुए दिवाकर का प्रवेश।)

- दिवाकर :** अरे, ठंड चढ़ रही थी, सोचा, आराम ही फरमाया जाए पर एक तुम हो।
- कला :** हाँ, मैं तो हूँ ही। तुम्हीं बताओ चाय बनाने के लिए कहकर सोने की क्या ज़रूरत पड़ जाती है? अजीब आदमी हो!
(केतली से प्याले में चाय डालकर देती है। चौकी पर बैठकर दिवाकर चाय सिप करता है। एक प्याले में कला अपने लिए भी चाय लेकर कुर्सी पर ही बैठ जाती है।)
- दिवाकर :** कहाँ गए साहबज़ादे?
- कला :** मैं क्या जानूँ? कहीं वे कहकर भी जाते हैं। साइकिल संभाली, निकल पड़े। मैं कहे देती हूँ, यह इस साल भी पास नहीं होगा। जो रवैया उसका देख रही हूँ, उससे तो यही लगता है।
- दिवाकर :** बच्चों के इस तरह थोड़े पीछे पड़ा जाता है। तुम तो कभी प्यार से बोलना ही नहीं जानती। बच्चे तो प्यार के भूखे होते हैं।
- कला :** हाँ, प्यार के भूखे हैं। मैं तो लड्डू लिए घूमती हूँ उनके पीछे। जब देखो, मुझी को तुम ताड़ते रहते हो।
- दिवाकर :** कला, आज का ज़माना ऐसा नहीं रहा। अगर हम बच्चों के साथ बहुत सख्त करेंगे, तो बच्चे, आज नहीं तो कल, हमारा सामना ज़रूर करने लगेंगे। हमें ही झुकना होगा। क्या फ़ायदा बहस से? और हमारी बिटिया रानी कहाँ गई?
- कला :** उसके कॉलेज में भी कभी कुछ, कभी कुछ चलता रहता है। पढ़ाई के नाम पर तो कुछ दिखाई नहीं देता। खैर छोड़ो,

आज तुम घर रहोगे न? मुझे शॉपिंग के लिए जाना है। कुछ ज़रूरी चीज़ें खरीदनी हैं। इतवार है वैसे भी आज। और दिन तो छुट्टी मिल नहीं पाती।

दिवाकर : मैं घर कहाँ रहूँगा? मेरी तो एक ज़रूरी मीटिंग है। साढ़े दस बजे घर छोड़ दूँगा।

कला : बाप-बेटी सब छुट्टी के दिन भी इतने बिज़ी रहते हैं। स्मेसर को रोकना क्या आसान है? रोकने पर उसका खाना जो बनाना पड़ता है। आधे में हम सब, आधे में वह।

दिवाकर : फिर भी कोई न कोई हल तो खोजना ही पड़ेगा। हाँ, ऐसा है तुम बाज़ार के लिए अभी निकल जाओ। दस बजते-बजते बाज़ार खुल जाता है। मैं थोड़ी देर में चला जाऊँगा। ग्यारह बजे तक जा सकता हूँ।

कला : ठीक है, ऐसा ही करती हूँ।

(कला का कमरे की ओर प्रस्थान। दिवाकर उठता है और फिर पीढ़े पर पड़े अखबार को खोलकर पढ़ने लगता है।)

दिवाकर : (अखबार पढ़ते हुए ज़ोर से) ओ कला ! सुनती हो, देखो, कैसा विचित्र समाचार है!

कला : (अंदर से ही) अभी आती हूँ। एक मिनट में बस। मुझे कहाँ देरी लगती है?

दिवाकर : राम! राम! कैसा ज़माना आ गया। पता नहीं दुनिया किस ओर जा रही है? क्या करेंगे ये लोग! इतनी अराजकता! क्या कोई उपचार नहीं है इसका?

(कला का प्रवेश। एक हाथ में बास्केट है, दूसरे में धूप का चश्मा, कंधे पर पर्स लटका हुआ है।)

- कला** : क्यों चिल्ला रहे थे, क्या हुआ? ज़रा देर हुई नहीं कि कला, कला चिल्लाने लगते हो।
- दिवाकर** : बात ही ऐसी है कला! **(अखबार बढ़ा देता है कला की ओर)** लो तुम्हीं पढ़ो। ये सब होगा अब तो। बेटा बाप को शूट करेगा।
- कला** : **(अखबार पढ़ते हुए)** हे भगवान! बेटे ने बाप को शूट कर दिया।
- दिवाकर** : बाप ने क्या कहा था? यही तो कि तुम्हारे ढंग बिगड़ते जा रहे हैं, अगर संभालोगे नहीं तो रोते फिरोगे। उसका इतना भीषण बदला!
- कला** : चौदह साल के लड़के की इतनी हिम्मत पर किया भी क्या जा सकता है? माँ-बाप मुँह सिलकर तो रह नहीं सकते।
- दिवाकर** : मुँह सिलकर ही रहना पड़ेगा, अब तो।
- कला** : देखा जाएगा। मैं जा रही हूँ। अगर तुम जाते हो तो थोड़ी देर के लिए रमेसर को छोड़ देना। मैं आकर उसको छुट्टी दूँगी। रमेसर! ओ रमेसर।
- (रसोई से रमेसर का प्रवेश)**
- कला** : देखो, मैं ग्यारह साढ़े-ग्यारह तक लौटूँगी। बाज़ार से। तब तक तुम्हें घर रहना है।
- रमेसर** : पर, मालकिन! हमके भी जायके रहा आज जल्दी। खैर, आप जाओ। हमके तो रुकिबे ही पड़ी।
- (चला जाता है)**
- कला** : देख रहे हो आप इसे भी?

- दिवाकर :** सब कुछ देख रहा हूँ और देखकर भी आँखें बंद करने को मजबूर हूँ। जो कुछ होना है वह होगा ही।
(कला का प्रस्थान। दिवाकर कुर्सी आगे खींचकर अखबार पढ़ने बैठ जाता है। बाहर वाले दरवाजे से नीरू का प्रवेश।)
- नीरू :** (दिवाकर के पास आकर) माँ आज सुबह-सुबह ही बास्केट लेकर कहाँ गई, पापा?
- दिवाकर :** घर का कुछ सामान खरीदने गई हैं। तू कहाँ गई थी?
- नीरू :** कॉलेज में ड्रामे का रिहर्सल चल रहा है पर हीरो का रोल करने वाली लड़की आज आई ही नहीं, इसलिए हम सबको लौटना पड़ा।
- दिवाकर :** पढ़ाई कैसी चल रही है? पढ़ना-लिखना तो सब ताक पर रख दिया। तुम्हें तो ये ड्रामे ही पास करा देंगे।
- नीरू :** पापा! पढ़ाई तो रोज़-रोज़ की है, ये ड्रामे तो कभी-कभी ही होते हैं और मुझे तो हीरोइन का रोल मिला है। इतना लंबा पार्ट याद करना है। कुछ याद भी हो गया है। बस, आज पक्का याद हो जाएगा।
- दिवाकर :** (मेज़ पर हाथ ठोककर) मैं कहता हूँ नीरू! पढ़ाई में समय दो। पढ़ना ज़रूरी है। बिना पढ़े ज़िंदगी में कुछ मिलने वाला नहीं है।
- नीरू :** आप तो हमेशा यही उपदेश देते रहते हैं। आपको क्या इतनी चिंता है हमारी पढ़ाई की? अब हम बच्चे थोड़े ही रह गये हैं। अपना भला-बुरा खूब समझते हैं। नाऊ वी आर फुल्ली ग्रोन अप... (बड़बड़ाती हुई अंदर जाती है।)
- दिवाकर :** (दर्शकों की ओर मुड़कर) देखा आपने, ये लोग अपना

भला-बुरा समझते हैं। इन्हें कुछ कहना हमारा काम नहीं रहा। ये अपनी मर्जी से पढ़ेंगे, अपनी मर्जी से बाहर जाएँगे, आएँगे, अपनी मर्जी से सब कुछ करेंगे। ये हमारे बच्चे हैं- हमने इन्हें पाला-पोसा है, इनके लिए हम सुबह से शाम तक खटते रहते हैं पर ये हैं कि इन्हें हमारे हस्तक्षेप का एक अक्षर भी बर्दाश्त नहीं। (बैठकर अखबार पढ़ने लगता है)

(गुणगुनाते हुए मनुज का प्रवेश। आकर चौकी पर बैठता है। एक मोजा, जूता निकालकर इधर फेंकता है, दूसरा उधर। दिवाकर की ओर देखता है। कोट उतार कर चौकी पर फेंक देता है। फिर दिवाकर की ओर देखता है। टाई उतार कर पीढ़े की ओर फेंकता है पर टाई पीढ़े पर न गिरकर ज़मीन पर गिर जाती है। फिर दिवाकर के पास आकर आश्चर्य से देखता है।)

- दिवाकर : ऐसे अचरज से मेरी ओर क्या देख रहे हो ?
- मनुज : बात अचरज की ही है पापा! महान आश्चर्य की।
- दिवाकर : क्यों क्या हुआ ?
- मनुज : ज़रूर कुछ बात है पापा! आपने मुझे कुछ कहा नहीं। मैंने जूते कहीं फेंके, कोट कहीं पर। आप बिल्कुल चुप रहे। ज़रूर कोई बात है पापा, लगता है मम्मी से लड़ाई हुई है। अभी पूछता हूँ मम्मी से (रसोई की ओर झाँककर) मम्मी! मम्मी! (रसोई से कोई आवाज़ नहीं आती।)
- मनुज : मम्मी बोलती ही नहीं। ज़रूर कहीं गई हैं (दिवाकर से) क्यों पापा, मेरा अनुमान ठीक है न कि मम्मी कहीं गई हैं। कहाँ गई हैं सुबह-सुबह ?

- दिवाकर :** बाज़ार।
- मनुज :** बाज़ार, सुबह ही सुबह। क्या बात है पापा? आप चुप क्यों हैं? आज आपने अखबार में लड़के वाला वह समाचार पढ़ लिया है शायद। पापा डर गए, पापा डर गए। **(ताली बजाता है)** पर पापा, आप हमसे डरिए नहीं। हम ऐसा नहीं कर सकते। **(दिवाकर चुपचाप मनुज की ओर देखता है।)**
- मनुज :** क्या देख रहे हैं आप पापा? सचमुच आज का पेपर पढ़कर आप डर गए हैं।
- दिवाकर :** जरूर डर गया हूँ। तुम जैसा वीर पुत्र पाकर डरूँगा नहीं तुमसे, तो और क्या करूँगा? कर भी क्या सकता हूँ?
- मनुज :** कैसी बातें कर रहो आप पापा? **(अपने जूते-मोजे एक जगह रखता है। टाई और कोट उठाता है।)** ठीक है, ठीक है, आप कर भी क्या सकते हैं? आप कहते तो शायद मैं न जूते-मोजे रखता न कोट-टाई। **(मनुज का अंदर प्रस्थान। नीरू का प्रवेश। उसने हाउस गाउन पहना हुआ है। वह आकर चौकी पर पैर फैलाकर बैठ जाती है। फिर कुछ सोचकर खड़ी हो जाती है।)**
- नीरू :** ये दीवारें मेरे लिए मत खड़ी करो। मेरे हाथों में सुहाग की मेंहदी रचाकर माँग में सौभाग्य का सिंदूर भरकर भी तुम आज यूँ उपेक्षित निगाहों से मुझे देख रहे हो, न! न! मैं मर जाऊँगी। शेखर! शेखर! **(दिवाकर की ओर देखकर)** ओ साँसी पापा। मुझे याद ही नहीं रहा कि आप यहाँ बैठे हैं। दरअसल मैं अपने नाटक का रिहर्सल करने लगी थी।
- नीरू :** पापा, हमारे नाटक की नायिका शोभी है। उसका पति

शेखर उसे छोड़कर चला जाता है। गोमती शोभी और शेखर के बीच में दीवार बन जाती है। बेचारी शोभी! पापा, जब मैं शोभी का रोल करती हूँ तो शोभी बन जाती हूँ, बिल्कुल शोभी। मैं नीरू को बिल्कुल भूल जाती हूँ। मेरे अन्दर की नीरू मर जाती है और मैं ऊपर से नीचे तक शोभी बन जाती हूँ। मेरी मिस कहती हैं कि मैंने शोभी के रोल को जी लिया है। सच पापा, कलाकार की सबसे बड़ी सफलता आत्मविस्मृति है। जब तक कलाकार अपने को भूलकर पात्र में रम नहीं जाता तब तक उसकी कला में निखार नहीं आ सकता।

(दिवाकर चुप रहता है। नीरू आश्चर्य से दिवाकर को देखती है)

- नीरू** : क्या हुआ आज आप को पापा? आप क्या सोच रहे हैं?
(मनुज का प्रवेश। दिवाकर अंदर चला जाता है।)
- मनुज** : मैं बताऊँ क्या हुआ है पापा को? जानती हो?
- नीरू** : क्या हुआ है बता तू ही?
- मनुज** : आज के अखबार को पढ़कर पापा डर गए हैं।
- नीरू** : आज के अखबार को पढ़कर पापा डर गए हैं? क्या है आज के अखबार में?
- मनुज** : तूने पढ़ा नहीं? दिल्ली के एक चौदह साल के लड़के ने अपने पापा को शूट कर दिया। केवल इसलिए कि उसके पापा उससे पढ़ने को कहते थे। उससे अपना रवैया सुधारने को कहते थे। वह लड़का नाराज़ हो गया और उसने अपने पापा को शूट कर दिया।

- नीरू** : बड़ी गलत हरकत की लड़के ने।
- मनुज** : उसकी क्या गलती थी इसमें? मम्मी-पापा लोग हम पर कोरा शासन करना चाहते हैं। बात-बात पर रोक, पग-पग पर हस्तक्षेप। हिदायतों के चौखटों में हमारी जिंदगी जड़ दी गई है। ये लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि हम भी हाड़-मांस के प्राणी हैं, हमारी भी अपनी थिंकिंग है। हम इतने मूर्ख नहीं हैं नीरू! हमें भी अपने भविष्य की चिंता है पर जब हमें ज़रूरत से अधिक टोका जाता है तो प्रतिक्रिया स्वरूप हम अनुशासनहीन हो जाते हैं।
- नीरू** : तो तेरा यह विचार है, उस लड़के ने ठीक किया।
- मनुज** : मैं यह कब कहता हूँ कि उस लड़के ने ठीक किया पर चलते-चलते चरण बहकने का एक कारण यह भी है कि हमें आदेशों से इतना लाद दिया जाता है कि हम गर्दन से नीचे तक अपने को दबा-दबा महसूस करते हैं, तब हमारा अंतर्मन रिवोल्ट करने लगता है और हम भागना चाहते हैं। भागने की यह स्थिति इतनी खतरनाक हो सकती है कि जो उस समय हमारे सामने आ जाएगा, वही हमारी आक्रामक चेष्टाओं से आहत हो सकता है पर यह स्थिति कभी-कभी ही आती है। हमारा विवेक अंधा हो जाता है। जानती है नीरू, अंधा आदमी क्यों ठोकर खाता है?
- नीरू** : क्योंकि उसे दिखाई नहीं देता। वह अंधा जो होता है।
- मनुज** : नहीं, वह ठोकर इसलिए खाता है कि आँखों वाला पास खड़ा व्यक्ति उसे सहारा नहीं देता, उसे सहारा देने से कतराता है। हम भी जब अंधे हो जाते हैं तो चाहते हैं आस-पास से रस की दो बूँदें हमें मिल जाएँ। सच नीरू, ये रस की बूँदें प्यार की

बूँदें हैं जो जीवन के सारे अंधेरे को अंदर तक पोंछ डालती हैं और हमारी ज़िंदगी तब उजालों में नहा सकती है।

नीरू : तू तो बड़ा दार्शनिक हो गया है, मनुज!

मनुज : हाँ नीरू, कितना भटका हूँ आज तक, पर कहीं शांति नहीं मिलती। भटकन कहीं कभी शांति नहीं दे सकती। भटकते हुए अंधी गलियाँ भी मिलती हैं और उजाड़ खंडहर-सी उजालों की बस्तियों से भी हम टकराते हैं पर कहीं मन टिक नहीं पाता। एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक, तीसरे तक... भटकन केवल भटकन, भटकन का कहीं अंत नहीं।

नीरू : सच कहता है तू, मनुज! भटकन आदमी को भटकाती है- भटकाती ही रहती है। आदमी खुद कभी भटकना नहीं चाहता, उसको भटकने के लिए मजबूर करता है उसका परिवेश, उसकी स्थितियाँ। आदमी इन सब से बच नहीं पाता। हम घर से बाहर भागते हैं, क्यों भागते हैं बाहर की ओर? हमारा मन घर की बंद दीवारों से समझौता नहीं कर पाता और बाहर सहारे की कोई छत ऊपर नहीं होती इसलिए हम भटकते हैं। क्या यही हमारी नियति है?

(द्रुतगति से दिवाकर का प्रवेश)

दिवाकर : हाँ, यही तुम लोगों की नियति है। घर की दीवारों के तुम बंदी नहीं होना चाहते। तुम्हें चाहिए खुला आकाश, पर खुला आकाश कहाँ नहीं है? इधर-उधर सब ओर खुला आकाश दिखाई देता है इसलिए तुम वहाँ भी एकरसता से ऊब जाते हो और फिर घर की ओर भागते हो! कभी तुमने समझने की चेष्टा की है, माँ-बाप के प्यार को समझने की। तुम लोग प्यार के हकदार तो होना चाहते हो पर ताड़ना के नहीं। सोचकर

देखो, क्या ताड़नाएँ अकारण होती हैं? जो प्यार करेगा—
दुलराएगा—क्या वह बुरे काम पर लताड़ेगा नहीं?

मनुज : जरूर लताड़ेगा! इतना लताड़ेगा कि उस ताड़ना में प्यार का एक तिनका बनकर बह जाएगा। हमें इतना हलका प्यार नहीं करना चाहिए पापा, जो आँधी में एक तिनके जैसा ही रह जाए। हमें प्यार चाहिए— केवल प्यार जिसे न ताड़नाएँ मिटा सकें न लाँछनाएँ। आपका प्यार हमें ज़िंदगी के शिखर पर पहुँचा सकता है पर आपकी उपेक्षा हमारे व्यक्तित्व को बौना बनाकर रख देगी।

नीरू : ठीक कह रहा है मनुज, पापा! आपके पास कहाँ समय है, बच्चों के लिए, घर के लिए। हम भाग्य के सहारे पलकर बड़े हो गए; भाग्य ही हमें रास्ता दिखाएगा आगे भी। हम इतने भाग्यवादी क्यों हो गए पापा? जानते हैं आप? आपकी उपेक्षाओं ने हमें जो लाचारियाँ दी हैं...

मनुज : घर का अकेला लड़का मनुज, कितना उपेक्षित, कितना लाँछित! कब घर में आता है, कब घर से जाता है, कौन देखने वाला है? किसको फुरसत है? मम्मी कॉलेज में, पापा ऑफिस में। घर खाली दीवारों का नाम नहीं है पापा! घर नाम है एक ऐसे माहौल का, जिसमें प्यार रचा-बसा रहता है; जिसमें सबके दुख-दर्दों का संचरण एक साथ मुखर रहता है, जिसकी हवा में आत्मीयता की गंध होती है। क्या हमारा घर, घर है पापा?

नीरू : कब कौन आता है, कौन जाता है, इसका लेखा-जोखा रखने वाला यहाँ है ही कौन? घर एक थाई है। जैसे थाई को छूकर खिलाड़ी के सिर पर जीत का सेहरा बँध जाता है वैसे ही घर की थाई को छूकर हमें घर आने का अहसास हो जाता है पर

यह अहसास कितना खोखला होता है? क्षण-भर में ही तो जैसे सब कुछ टूट जाता है; बिखर जाता है।

दिवाकर : मुझे लगता है तुम लोग किसी नाटक के डायलॉग्स बोलने लगे हो। गज़ब का कमांड हो गया है तुम लोगों का भाषा पर। क्या कहने हैं, 'घर एक ऐसे माहौल का नाम है,' 'घर एक थाई है'। तुम लोगों का क्रिएटिव माइंड पूरी तरह विकसित हो चुका है। मुझे तुम पर गर्व है।

मनुज : आप किसी भी चीज़ को सीरियसली नहीं लेते, पापा। सब कुछ हँसी में टाल देने की आपकी ये आदत बहुत गंदी है। आज जब मैं घूमने गया, अपने दोस्तों के साथ, तो सबने मुझे बधाई दी— मेरे जन्मदिन की, पर यहाँ घर में किसे याद है कि आज से ठीक पंद्रह वर्ष पहले इसी घर में कोई लड़का जन्मा था और....

(कला का प्रवेश)

कला : और हम लोगों ने उसका नाम मनुज रखा था। बड़े लाड़ से उसका लालन-पालन किया था। प्यार की थपकियाँ दी थीं—दुलार की लोरियाँ उसके लिए गाई थीं। पर यह सब वह मनुज नहीं जानता। उसे तो केवल एक बात याद है कि उसे डाँटा क्यों जाता है। पढ़ने की बार-बार उसे क्यों याद दिलाई जाती है।

(मनुज के सिर पर हाथ फेरकर) यही न ? पागल कहीं का।

नीरू : तो क्या मम्मी, तुम्हें मनुज के जन्मदिन की याद थी?

कला : मुझे भला क्यों याद होने लगी? दोस्त बधाई दे दें, तो उनकी बधाई ही सब कुछ है।

- दिवाकर :** तुम हमारी लाचारियों को नहीं समझते बेटा! नौकरी हमारी लाचारी है, मेरी भी, कला की भी। बढ़ती हुई मँहगाई में हम दोनों नौकरी न करें, तो यह घर नहीं चल सकता।
- नीरू :** पापा, फिर आप बीच में ही बात काट रहे हैं। प्रश्न है मनुज के जन्मदिन का। किसी को भी तो याद नहीं रहा। वो तो मनुज के दोस्तों को याद था।
- कला :** हाँ, मनुज के दोस्तों को ही याद था **(बास्केट से एक पैकेट निकालकर)** और यह पैकेट हम यूँ ही ले आए, बिना किसी ओकेजन के, बिना किसी याद के? **(पैकेट मनुज की ओर बढ़ाकर)** लो बेटे, यह तुम्हारे लिए है। उस दिन तुम्हें ऐसा ही पुलोवर पसंद आया था पर पैसों की व्यवस्था न होने के कारण तुम्हारी इच्छा पूरी न कर पाने का अफ़सोस हम दोनों को कितना रहा, कहा नहीं जा सकता। आज मैंने पूरी व्यवस्था पहले से ही करके तुम्हारे लिए बिल्कुल वैसा ही पुलोवर खरीद लिया है।
(पुलोवर खोलकर) देखो बेटा, तुम्हें ठीक आएगा और तुम पर अच्छा भी लगेगा।
- नीरू :** ओह, सो वंडरफुल पुलोवर, मम्मी! आई कांट डिस्क़्राइब दि डिसेंसी ऑफ़ योर च्वाइस। मनुज, जँच जाओगे भाई, इसे पहनकर, पर मम्मी, दो फरवरी भी आ रही है। याद है न!
- कला :** धत पगली, बच्चों के जन्मदिन माँ-बाप को याद दिलाए नहीं जाते। उन्हें याद रहते हैं।
- दिवाकर :** हाँ मनुज! हम भूल नहीं सकते **(जेब से घड़ी निकालकर मनुज की ओर बढ़ाते हैं।)** लीजिए, हमारी ओर से तोहफ़ा

स्वीकार कीजिए। बहुत दिन से आपकी फ़रमाइश थी न। हैप्पी बर्थ डे टु यू! जियो सौ बरस मेरे बेटे।

नीरू : हाँ मनुज! बहुत-बहुत बधाई तुम्हें (गाकर) हैप्पी बर्थ डे टु यू!

कला : मेरा बेटा ! बहुत बड़ा आदमी बनेगा एक दिन। इसमें दो राय नहीं हो सकती।

दिवाकर : इसमें भी कोई शक है! हमारा बेटा ज़रूर राइज़ करेगा।

मनुज : बस, इतना मक्खन मत लगाइए आप लोग। यह नाटक खत्म कीजिए अब!

नीरू दिवाकर कला- (एक साथ) हैप्पी बर्थ डे टु यू!

(मनुज हँसकर झुकता है अभिवादन में।)

(पर्दा गिरता है।)

7. शवयात्रा

– ओमप्रकाश वाल्मीकि

(मेरे लिए कहानी सिर्फ मनोरंजन या आनन्द की अनुभूति देने वाली रचना मात्र नहीं है। कहानी को जीवन-संघर्ष का साक्ष्य देना है। ऐसे अनुभवों का दस्तावेज बनना है, जो कदम दर कदम बाधायेँ बनकर खड़े हैं। दहकते रक्त को सुन कर देने वाली यातनायेँ हैं, जो इतिहास नहीं बन सकीं- वे व्यथा-कथायेँ हैं। जिंदा रहने और जीवन-सरोकारों से जूझते पात्र कटु सच्चाई हैं, जिन्हें कहानियों के माध्यम से दर्ज करने की कोशिश की है।)

चमारों के गाँव में बल्हारों का एक परिवार था, जो जोहड़ के पार रहता था। चमारों और बल्हारों के बीच एक सीमा रेखा की तरह था जोहड़। बरसात के दिनों में जब जोहड़ पानी से भर जाता था तब बल्हारों का संपर्क गाँव से एकदम कट जाता था। बाकी समय में पानी कम हो जाने से किसी तरह वे पार करके गाँव पहुँचते थे। यानी बल्हारों के गाँव तक जाने का कोई और रास्ता नहीं था, रास्ता बनाने की जरूरत कभी किसी ने महसूस ही नहीं की थी।

जब किसी चमार को उनकी जरूरत पड़ती, तो जोहड़ के किनारे खड़े होकर आवाज़ लगा देता। जोहड़ इतना बड़ा भी नहीं था कि बल्हारों तक आवाज़ ही न पहुँचे। आवाज़ सुनकर वे बाहर आ जाते थे।

परिवार में सिर्फ दो जन ही रह गये थे-सुरजा, जिसकी उम्र ढल चुकी थी; और उसकी बेटी संतो, जो शादी के तीसरे साल में ही विधवा होकर मायके लौट आई थी। सुरजा की घरवाली को मरे भी तीन साल हो गए थे। घर-बाहर की तमाम जिम्मेदारियाँ संतो ने संभाल रखी थीं। सुरजा वैसे भी काफी

कमजोर हो चला था। उसे सूझता भी कम था। लेकिन फिर भी गाँव के छोटे-मोटे काम वह कर ही देता था।

सुरजा का एक बेटा भी था, जो दस-बारह साल की उम्र में ही घर छोड़कर भाग गया था। कुछ साल इधर-उधर भटकने के बाद उसे रेलवे में नौकरी मिल गई थी। इस नौकरी ने ही उसे पढ़ने-लिखने की ओर आकर्षित किया था। किसी तरह उसने हाईस्कूल करके तकनीकी प्रशिक्षण लिया और रेलवे में ही फिटर हो गया था। नाम था कल्लू, जो अब कल्लन हो गया था।

जब संतो की शादी हुई, सारा खर्च कल्लन ने ही उठाया था। सुरजा के पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी। कल्लन की शादी भी रेलवे कॉलोनी में ही हो गई थी, उसके ससुर भी रेलवे में ही थे। उसे पढ़ी-लिखी पत्नी मिली थी, जिसके कारण उसके रहन-सहन में फर्क आ गया था। उसके जीवन का ढर्रा ही बदल गया था।

गाँव का यदाकदा ही आता था। लेकिन जब भी वह गाँव आता, चमार उसे अजीब-सी नज़रों से देखते थे, कल्लू से कल्लन हो जाने को वे स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। उनकी दृष्टि में वह अभी भी बल्हार ही था, समाज-व्यवस्था में सबसे नीचे यानी अछूतों में भी अछूत।

गाँव में वह अपने आपको अकेला महसूस करता था। परिवार से बाहर एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिससे वह दो घड़ी बतिया सके। गाँव के पढ़े-लिखे लोग भी उससे कटे-कटे रहते थे। आखिर वह था तो बल्हार ही, जोहड़ पार रहने वाला। गाँव वाले उसे कल्लू बल्हार ही कहकर बुलाते थे। उसे यह संबोधन अच्छा नहीं लगता था। नशतर की तरह उसे बींध कर हीन भावना से भर देता था।

इस बार वह काफी दिन बाद गाँव आया था। उसने आते ही सुरजा से कहा, "बापू, मेरे साथ दिल्ली चलो। सरकारी मकान में एक साथ रह लेंगे।"

“ना बेटे इब आखरी बखत में यो गाँव क्यूं छुड़वावे...पुरखों ने यहाँ आक्के किसी जमान्ने में डेरा डाल्ला था। यहीं मर खप्प गए, इसी माटी में। इस जोहड़ की ढ़ैंग पे रहके जिनगी काट दी। इब कहाँ जाँगे,” सुरजा ने आँखे मिचमिचाकर अपने मन की बात कही थी, जैसे अतीत में वह कुछ ढूँढ़ रहा था।

कल्लन ने संतो की ओर देखा। वह तो चाहती थी, इस जहालत से छुटकारा मिले। लेकिन बापू की बात काटने का उसमें न कभी पहले हौसला था, न अब है। बस, चुपचाप बैठकर पैर के अँगूठे से मिट्टी कुरेदने लगी थी। जैसे उसका सोच उसे कहीं बहुत दूर ले जा रहा था, जहाँ दूर-दूर तक भी कोई किनारा दिखाई नहीं पड़ता था। कल्लन ने जोर देकर कहा, “बापू, यहाँ न तो इज्जत है, ना रोटी, चमारों की नज़र में भी हम सिर्फ बल्हार हैं...यहाँ तुम्हारी वजह से आना पड़ता है...मेरे बच्चे यहाँ आना नहीं चाहते...उन्हें यहाँ अच्छा ही नहीं लगता...”

उसकी बात बीच में ही काटकर सुरजा बोला, “तो बेटे हियां मत आया कर...म्हारी तो कट जागी इसी तरह, बस, संतो की फिकर है। यो अकेल्ली रह जागी...यो टूटा फूटा घर भी शायद अगली बारिश ना देख पावे। तुझे जो म्हारी चिंता है, तो तू इस घर कू पक्का बणवादे...” सुरजा के मन में यह बात कई बार आई थी। लेकिन कह नहीं पाया था। आज मौका पाकर कह दिया।

“बापू मेरे पास जो दो-चार पैसे हैं, उन्हें यहाँ लगाकर क्या होगा? आपके बाद मैं तो यहाँ रहूँगा नहीं...संतो मेरे साथ दिल्ली चली जाएगी,” कल्लन ने साफ-साफ कह दिया।

सुनते ही सुरजा भड़क गया। उसके मुँह से गालियाँ फूटने लगीं। चिल्लाकर बोला, “तू ! मेरे मरने का इंतजार भी क्यूं करै है...इसे आज ही ले जा। और

हाँ, अपने पैसों की धौंस मुझे ना दिखा...अपने धोरे रख...जहाँ इतनी कटगी है, आग बी कट ही जागी।”

उन दोनों के बीच जैसे अचानक संवाद सूत्र बिखर गए थे। खामोशी उनके इर्दगिर्द फैल गई थी।

सुबह होते ही कल्लन दिल्ली चला गया था। पैसों का बंदोबस्त करके वह हफ्ते भर में लौट आया था। साथ में पत्नी सरोज और दस साल की बेटी सलोनी भी आई थी। बेटे को वे उसकी ननिहाल में छोड़कर आ गए थे। कल्लन ने आते ही बापू से कहा, “किसी मिस्तरी से बात करो। कल ईंटों का ट्रक आ जायेगा।” सुनते ही सुरजा की आँखों में चमक आ गई थी। उसे कल्लन ने उसे विश्वास दिला दिया था। वह उसी मिस्तरी की तलाश में निकल पड़ा था।

गाँव में ज्यादातर मकान सूरत राम ठेकेदार ने बनाए थे। सुरजा उसी के पास पहुँचा, “ठेकेदार जी, म्हारा भी एक मकान बना दो।”

सूरत राम ने पहले तो सुरजा को ऊपर से नीचे तक देखा। तन पर ढंग का कपड़ा नहीं और चला है पक्का मकान बनवाने। सूरत राम जल्दी में था। उसे कहीं जाना था। उसने हंसकर सुरजा को टाल दिया, “आज तो टेम ना है, फिर बात करेंगे।”

सुरजा ने हार नहीं मानी। सुबह ही वह मुँह अंधेरे निकल पड़ा था। पास के गाँव में साबिर मिस्तरी था। पुराना कारीगर। सुरजा ने उसे अपने आने का मकसद बताया। साबिर मान गया था, “ठीक है, मैं कल आके देख लूँगा। अपना मेहनताना पेशगी लूँगा।”

“ठीक है मिस्तरी जी। कल आ जाओ...जोहड़ पे ही म्हारा घर है।” सुरजा अपनी खुशी छिपा नहीं पा रहा था। लौटते समय उसे पाँव जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। कमजोर शरीर में भी जैसे स्फूर्ति भर गई थी।

जब तक वह लौटकर घर पहुँचा, ईंटें आ चुकी थीं। लाल-लाल ईंटों को देखकर सुरजा अपनी थकावट भूल गया था। वह उल्लास से भर उठा था। उसने ऐसी खुशी इससे पहले कभी महसूस ही नहीं की थी।

जोहड़ पार ईंटें उतरती देखना गाँव के लिए किसी आश्चर्य से कम नहीं था। पूरे गाँव में जैसे भूचाल आ गया था। गाँव के कई लोग जोहड़ के किनारे खड़े थे।

रामजीलाल कीर्तन सभा का प्रधान था। रविदास जयंती पर रात भर कीर्तन चलता था। भीड़ में वह भी खड़ा था। जब उससे रहा नहीं गया तो चिल्लाकर बोला, “अबे ओ! सुरजा... यो इन्टे कोण लाया है?”

सुरजा ने उत्साहित होकर कहा, “अजी बस, म्हाारा कल्लण पक्का घर बणवा रिया है।”

रामजीलाल की आँखें फटी की फटी रह गईं। अपने भीतर उठते ईर्ष्या-द्वेष को दबाकर उसने कहा, “यो तो चोखी बात है सुरजा...पर पक्का मकान बणवाने से पहले परधान जी से तो पूछ लिया था या नहीं?”

रामजीलाल की बात तीर की तरह सुरजा के सीने में उतर गई। उसे लगा, जैसे कोई सूदखोर साहुकार सामने खड़ा धमकी दे रहा है। गुस्से पर काबू पाने का असफल प्रयास करे हुए सुरजा गुराया, “परधान से क्या पूछणा?”

“फेर भी पूछ तो लेणा चाहिए था,” कहकर रामजीलाल तो चला गया लेकिन सुरजा को संशय में डाल गया था।

रामजीलाल सीधा प्रधान के पास पहुँचा। जोहड़ पार के हालात नमक-मिर्च लगाकर उससे प्रधान बलराम सिंह के सामने रखे। बलराम सिंह ने उस वक्त कोई प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की। सिर्फ सिर हिलाकर मूँछों पर हाथ फेरता रहा। प्रधान भी घाघ था। वह रामजीलाल की फितरत से वाकिफ था। उसके चले

जाने के बाद वह कुछ गमगीन-सा हो गया था। सुरजा बल्हार पक्का मकान बनवा रहा है, यह बात उसे बेचैन करने के लिए काफी थी। वैसे भी सुरजा गाँव के लिए अब उतना उपयोगी नहीं था।

यह खबर पूरे गाँव में फैल गई थी, जोहड़ पार बल्हारों का पक्का मकान बन रहा है। रेलवे की कमाई है। ईंटों का ट्रक आ गया है। सीमेंट, रेत, बजरी, सरिये आ रहे हैं। बात फैलते-फैलते इतनी फैल गई कि मकान नहीं गाँव की छाती पर हवेली बनेगी। खिड़की-दरवाजों के लिए सागौन की लकड़ी आ रही है, सुना है रंगीन संगमरमर के टाइल भी आ रहे हैं। जितने मुँह उतनी बातें। अगले दिन सुबह ही प्रधान का आदमी आ धमका था जोहड़ के किनारे। सुरजा को मन मारकर उसके साथ जाना पड़ा।

सुरजा को देखते ही बलराम सिंह चीखा, “अंटी में चार पैसे आ गए तो अपनी औकात भूल गया, बल्हारों को यहाँ इसलिए नहीं बसाया था कि हमारी छाती पर हवेली खड़ी करेंगे...वह ज़मीन जिस पर तुम रहते हो, हमारे बाप-दादों की है। जिस हाल में हो...रहते रहो...किसी को एतराज नहीं होगा। सिर उठा के खड़ा होने की कोशिश करोगे तो गाँव से बाहर कर देंगे।”

बलराम सिंह का एक-एक शब्द बुझे तीर की तरह सुरजा के जिस्म को छलनी-छलनी कर गया था। सुरजा की आँखों के सामने ज़िंदगी के खट्टे-मीठे दिन नाचने लगे। जैसे कल ही की बात हो। क्या नहीं किया सुरजा ने इस गाँव के लिए। और बलराम चुनाव के दिनों में एक-एक वोट के लिए कैसे मिन्नतें करता था। तब सुरजा बल्हार नहीं, सुरजा ताऊ हो जाता था। सुरजा ने एक सर्द सांस छोड़ी। बिना कोई जवाब दिए वापस चल दिया। बलराम सिंह ने आवाज़ देकर रोकना चाहा। लेकिन वह रुका नहीं। बलराम सिंह की चीख अब गालियों में बदल गई, जो बाहर तक सुनाई पड़ रही थीं।

घर पहुँचते ही सुरजा ने कल्लन से कहा, “तू सच कहवे था कल्लू...यो गाँव

रहणे लायक ना है।” उसकी लंबी मूँछें गुस्से में फड़फड़ा रही थीं। आँखों के कोर भीगे हुए थे।

“बापू अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा... ये ईंटें तो कोई भी खरीद लेगा, ये मकान नहीं बनने देंगे,” कल्लन ने सुरजा को समझाने की कोशिश की। लेकिन सुरजा ने भी जिद पकड़ ली थी। वह झुकेगा नहीं। जो होगा देखा जायेगा। उसने मन ही मन दोहराया।

“ना, बेट्टे मकान तो ईब बणके रहवेगा... जान दे दूंगा, पर यो गाँव छोड़के ना जाऊंगा।” सुरजा ने गहरे आत्मविश्वास के साथ कहा।

कल्लन अजीब-सी दुविधा में फंस गया था। भावावेश में आकर वह ईंटें तो ले आया था, पर गाँव के हालात देखकर उसे डर लग रहा था। कहीं कोई बवेला न उठ खड़ा हो। पत्नी सरोज और बेटी सलोनी साथ आ गए थे। लेकिन सलोनी को यहाँ आते ही बुखार हो गया था। सरोज के पास जो दो-चार गोलियाँ थीं, वे दे दी थी सलोनी को। लेकिन बुखार कम नहीं हुआ था। सरोज का मन घबरा रहा था। वह लगातार कल्लन से जाने की जिद कर रही थी, “बेकार यहाँ मकान पर पैसा लगा रहे हो। संतो हमारे संग रहेगी। बापू को समझाओ।” लेकिन कल्लन सुरजा को समझाने में असमर्थ था। उसने सरोज से कहा, “अब, ये आखिरी बखत में बापू का जी दुखाना क्या ठीक होगा?” सरोज चुप हो गई थी।

सुरजा ने रात भर जागकर ईंटों की रखवाली की थी। एक पल के लिए भी आँखें नहीं झपकी थीं। सुबह होते ही वह साबिर मिस्तरी को बुलाने चल दिया था। सुरजा को डर था। कहीं कोई उसे उलटी-सीधी पट्टी न पढ़ा दे। उसे अब किसी पर भी विश्वास नहीं था।

सलोनी का बुखार कम नहीं हो रहा था। सरोज ने कल्लन से किसी डॉक्टर को बुलाने के लिए कहा, गाँव भर में सिर्फ एक डॉक्टर था। कल्लन उसे ही

बुलाने के लिए चल दिया।

कल्लन को देखते ही डॉक्टर ने मना कर दिया। सामान्य पूछताछ करके कुछ गोलियाँ पुड़िया में बाँधकर दे दीं। कल्लन ने बहुत मिन्नतें की, “डॉक्टर साहब एक बार चल के तो देख लो?” डॉक्टर टस से मस नहीं हुआ। कल्लन ने कहा, “मरीज को यहीं आपके क्लीनिक में लेकर आता हूँ।”

“नहीं...यहाँ मत लाना... कल से मेरी दुकान ही बंद हो जाएगी। यह मत भूलो तुम बल्हार हो,” डॉक्टर ने साफ चेतावनी दी, “ये दवा उसे खिला दो, ठीक हो जाएगी।”

कल्लन निराश लौट आया था। डॉक्टर ने जो गोलियाँ दी थीं, वे असरहीन थीं। बुखार से बदन तप रहा था। तेज बुखार के कारण वह लगातार बड़बड़ा रही थी। संतो उसकी सेवा-टहल में लगी थी। एक मिनट के लिए भी वहाँ से नहीं हटी थी। सरोज की चिंता बढ़ गई थी। उसके मन में तरह-तरह की शंकाएं उठ रही थीं।

सुरजा सुबह का गया दोपहर बाद लौटा था थका-हारा, हताश। उसे इस हाल में देखकर कल्लन ने पूछा, “क्या हुआ बापू?” सुरजा ने निढाल स्वर में कहा, “होणा क्या था? मिस्तरी कहीं दूर रिश्तेदारी में गया है। दस-पंद्रह दिन बाद आवेगा...बेट्टे! मुझे ना लगे इब वो आवेगा।” सुरजा ने अपने मन की हताशा जाहिर की।

“क्यों, बापू हम तो उसकी मेहनत का पैसा उसे पेशगी दे रहे थे, फिर भी वह मुकर गया,” कल्लन ने ताज्जुब जाहिर किया।

“गाँव के ही किसी ने उसे रोका होगा...साबिर ऐसा आदमी तो ना है...वह भी इनसे डर गया दिक्खे,” सुरजा ने गहरे अवसाद में डूबकर कहा। दोनों गहरी चिंता में डूब गए थे।

“सलोनी का जी कैसा है?” सुरजा ने पूछा।

“उसकी तबीयत ज्यादा ही बिगड़ गई है। अस्पताल ले जाना पड़ेगा,” कल्लन ने चिंता व्यक्त की।

“किसी झाड़-फूंक वाले कू बुलाऊं...कहीं कुछ ओपरा ना हो?” सुरजा ने मन की शंका जताई।

“नहीं बापू... मैं कल सुबह ही उसे लेकर शहर जाऊंगा। बस, आज की रात ठीकठाक कट जाए,” कल्लन के स्वर में गहरी पीड़ा भरी हुई थी। सुरजा से उसे ढाँढ़स बँधाया।

पूरी रात जागते हुए कटी थी। सलोनी की तबीयत बहुत ज्यादा बिगड़ गई थी। सुबह होते ही कल्लन ने सलोनी को पीठ पर लादा। उसके इर्दगिर्द ठीक से कपड़ा लपेटा। सरोज साथ ही थी। वे धूप चढ़ने से पहले शहर पहुँच जाना चाहते थे।

शहर गाँव से लगभग आठ-दस किलोमीटर दूर था। आने-जाने का कोई साधन नहीं था। कल्लन ने गाँव के सम्पन्न चमारों से बैलगाड़ी माँगी थी, लेकिन बल्हारों को वे गाड़ी देने को तैयार नहीं थे।

पीठ पर लादकर सलोनी को ले चलना कठिन हो रहा था। वह बार-बार पीठ से नीचे की ओर लुढ़क रही थी। कल्लन की पत्नी सहारा देते हुए उसके पीछे-पीछे चल रही थी। वे जल्दी से जल्दी शहर पहुँचना चाहते थे। लेकिन रास्ता काटे नहीं कट रहा था। अचानक कल्लन को लगा जैसे सलोनी का भार कुछ बढ़ गया है। बुखार से तपता जिस्म ठंडा पड़ गया था। उसने सरोज से कहा, “देखो तो सलोनी ठीक तो है।”

सलोनी के शरीर में कोई स्पंदन ही नहीं था। सरोज दहाड़ मारकर चीख पड़ी थी, “मेरी बेटी को क्या हो गया...देखो तो यह हिल क्यों नहीं रही।” उसने

रोते हुए कहा।

कल्लन ने सलोनी को पीठ से उतारकर सड़क के किनारे लिटा दिया था। वह हताश ठगा-सा खड़ा था। उसके अंतस में एक हड़कंप-सी मच गई थी। दस वर्ष की जीती-जागती सलोनी उसके हाथों में ही मुर्दा जिस्म में बदल गई थी। सब कुछ आँखों के सामने घटा था। वे जोर-जोर से चीख कर रो रहे थे। रास्ता सुनसान था। उनकी चीखें सुनने वाला भी कोई दूर-दूर तक नहीं था। वे काफी देर इसी तरह बैठे रोते रहे। उन्हें सूझ ही नहीं रहा था- क्या करें, सड़क किनारे कच्चे रास्ते पर सलोनी के शव को लिए वे तड़प रहे थे। काफी देर बाद एक व्यक्ति शहर की ओर से आता दिखाई पड़ा। उन्हें उम्मीद की एक झलक दिखाई दी। शायद आने वाला उनकी कोई मदद करे। राहगीर क्षण भर उनके पास रुका। लेकिन बिना कुछ कहे, आगे बढ़ गया। शायद उसने उन्हें पहचान लिया था। उसी गाँव का था। कल्लन को लगा इंसान की 'जात' ही सब कुछ है।

आखिर वे उठे और बेंटी का शव कंधों पर रखकर गाँव की ओर लौट चले। कंधों पर जितना बोझ था, उससे कहीं ज्यादा बोझ उनके भीतर समाया हुआ था। सलोनी के बचपन की किलकारियाँ रह-रहकर उनकी स्मृतियों में कुलांचे भर रही थीं। भारी मन से वे सलोनी का शव उठाए गाँव की ओर बढ़ रहे थे। रास्ता जैसे खत्म ही नहीं हो रहा था। जितना समय शहर के पास पहुँचने में लगा था, उससे ज्यादा गाँव पहुँचने में लग रहा था। सरोज का हाल बहुत ही चिंताजनक था। वह सिर्फ घिसट रही थी। टूट तो कल्लन भी गया था लेकिन किसी तरह स्वयं को संभाले हुए था। सरोज अधमरी-सी हो गई थी। उससे चला नहीं जा रहा था।

सुरजा ने उन्हें दूर से ही देख लिया था। पहचाना तो उन्हें पास आने पर ही। लेकिन दूर से आती आकृतियों को देखकर उसने अंदाजा लगा था। वे जिस

तरह सलोनी को ला रहे थे, देखकर उसका माथा ठनका। वह घर से निकलकर सड़क तक आ गया था। जमीन पर दोहत्थड़ मार-मार कर वह रोने लगा था। कल्लन की आँखों से भी बेतहाशा आँसू बह रहे थे। उनका रोना-धोना सुनकर संतो भी आ गई थी। उन्हें ढाँढ़स बंधाने वाला कोई नहीं था। शहर से लौटने में उन्हें वैसे ही ज्यादा समय हो गया था। किसी को बुलाने के लिए भी समय नहीं था। वे रात भर इंतजार करने की स्थिति में नहीं थे। कल्लन चाहता था कि शाम होने से पहले ही दाह-संस्कार हो जाये। सलोनी के शव को देखकर सरोज बार-बार बेहोश हो रही थी।

समस्या थी लकड़ियों की। दाह-संस्कार के लिए लकड़ियाँ उनके पास नहीं थी। सुरजा और संतो लकड़ियों का इंतजाम करने के लिए निकल पड़े थे। उन्होंने चमारों के दरवाजों पर जाकर गुहार लगाई थी। लेकिन कोई भी मदद करने को तैयार नहीं था। घंटा भर भटकने के बाद भी वे इतनी लकड़ी नहीं जुटा पाए थे कि ठीक से दाह-संस्कार हो सके। घर में उपले थे। संतो ने कहा, “लकड़ियों की जगह उपले ही ले जाओ।”

चमारों का श्मशान गाँव के निकट ही था। लेकिन उसमें बल्हारों को अपने मुर्दे फूंकने की इजाजत नहीं थी। कल्लन की माँ के समय भी ऐसी ही समस्या आई थी। चमारों ने साफ मना कर दिया था। गाँव से बाहर तीन-चार किलोमीटर दूर ले जाकर फूंकना पड़ा था। इतनी दूर सलोनी के शव को ले जाना...लकड़ी, उपले भी ले जाने थे। सुरजा और कल्लन के अलावा कोई नहीं था, जो इस कार्य में हाथ बंट सकता था।

बल्हारों के मुर्दे को हाथ लगाने या शवयात्रा में शामिल होने गाँव का कोई भी व्यक्ति नहीं आया था। ‘जात’ उनका रास्ता रोक रही थी। कल्लन ने काफी कोशिश की थी। वह रविदास मंडल, डॉ. अंबेडकर युवक सभा के लोगों से जाकर मिला था। लेकिन कोई भी साथ आने को तैयार नहीं था। किसी-न-

किसी बहाने वे सब कन्नी काट गये थे।

रेलवे कॉलोनी में 'अंबेडकर जयंती' के भाषण उसे याद आने लगे थे। उसने उन तमाम विचारों को झटक दिया था। गहरी वितृष्णा उसके भीतर उठ रही थी। उसे लगा, वे तमाम भाषण खोखले और बेहद बनावटी थे।

कल्लन ने सुरजा से कहा, "बापू ! और देर मत करो..." उन दोनों ने कपड़े में लिपटे शव को उठा लिया था। स्त्रियों के श्मशान जाने का रिवाज बल्हारों में नहीं था। लेकिन संतो और सरोज के लिए इस रिवाज को तोड़ देने के अलावा कोई और रास्ता नहीं बचा था। संतो ने लकड़ियों का गड्ढर सिर पर रखकर हाथ में आग और हांडी उठा लिये थे। पीछे-पीछे सरोज उपलों से भरा टोकरा लिये चल पड़ी थी।

इस शवयात्रा को देखने के लिए चमारिनें अपनी छतों पर चढ़ गई थीं। उनकी आँखों के कोर भीगे हुए थे। लेकिन बेबस थीं, अपने-अपने दायरे में कैद। बल्हार तो आखिर बल्हार ही थे। अपने ही नहीं, उन्हें तो दूसरों के मुर्दे भी ढोने की आदत थी...

चमारों का गाँव और उसमें एक बल्हार परिवार !

8. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

- विष्णु प्रभाकर

उस दिन चिता पर रखे हुए उनके पार्थिव शरीर को अन्तिम प्रणाम किया तो सहसा विश्वास नहीं आया कि वे अब फिर नहीं बोलेंगे। ऐसा लगा कि जैसे सो रहे हों। कुछ क्षण में उठ बैठेंगे और अपनी उग्र भाषा में भाषण देना आरम्भ कर देंगे। उग्र जी का व्यक्तित्व असामान्य था। वह कभी भी भीड़ में एक बनकर नहीं रहे। उनके अन्तर्मन में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ थीं जो उन्हें सदा उद्बलित और असंयत बनाये रखती थीं। यदि वह लीक पर चलते तो उग्र कैसे होते ?

उनसे मिलने से पूर्व मैं उनकी प्रतिभा का कायल हो चुका था। तब शायद विद्यार्थी ही रहा हूँगा। दिल्ली की मारवाड़ी लाइब्रेरी में 'चन्द हसीनों के खतूत' पढ़ने बैठा तो पढ़कर ही उठा। पुस्तक बहुत बड़ी नहीं है, परन्तु उसकी भाषा, उसकी शैली और उसके दर्द ने मेरे किशोर मन को अभिभूत कर दिया। आज भी याद है कि मैं कई दिन तक भरा-भरा रहा था। कई व्यक्तियों से उसकी चर्चा की थी। इस क्षण उसके शब्द मुझे याद नहीं हैं, लेकिन विभोरता की यह स्थिति आज भी अंतर्मन पर अंकित है।

कई वर्ष बाद जनवरी, 1941 में घूमता-घामता मैं इन्दौर जा निकला। तब तक लिखने लगा था और उन दिनों इन्दौर से प्रकाशित होने वाली 'वीणा' हिन्दी के तत्कालीन मासिकों में प्रमुख स्थान रखती थी। मेरी कहानियाँ उसमें प्रकाशित हो चुकी थीं। श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' उसके सम्पादक थे। मैं उनसे मिलने के लिए 'वीणा' के कार्यालय में गया। वहाँ किसी व्यक्ति ने मुझे बताया, 'दीक्षित जी तो आज नहीं आएँगे। उग्रजी यहीं पर हैं, उनसे मिल लो।'

में उतफुल्ल हो उठा, 'अच्छा, उग्रजी यहाँ पर हैं?'

वह बोले, 'जी हाँ। वह पीछे के कमरे में ठहरे हुए हैं।'

में सहसा साहस नहीं बटोर सका और जब उनकी ओर चला तब भी शरीर में कंपन था। देखा कि समिति के विशाल प्रांगण में एक अपेक्षाकृत ठिगने कद का व्यक्ति तहमद लगाये जोर-जोर से माली से कुछ कह रहा है। बाल उसके कुछ लम्बे हैं और उसने अपने दोनों हाथ पीठ पर बाँधे हुए हैं। बार-बार एक हाथ को तेजी से आगे बढ़ाता है और क्यारी की ओर इशारा करके माली से कुछ कहता है।

डरते-डरते पास पहुँचकर मैंने नमस्ते की। उन्होंने सहसा गर्दन उठाकर मेरी ओर देखा। मुख पर आवेश था, आँखें चढ़ी हुई थीं। कुछ तल्खी से पूछा, 'तुम कौन हो?'

मैंने झिझकते हुए अपना परिचय दिया। कहा, 'अभी सुना है कि आप यहाँ ठहरे हैं इसलिए दर्शन करने चला आया हूँ।'

उन्होंने कहर-भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा और तीव्र स्वर में कहा, 'किस हरामजादे उल्लू के पट्टे ने तुमसे कहा कि मैं हरामजादा उल्लू का पट्टा यहाँ ठहरा हूँ?'

सुनकर मेरी क्या दशा हुई इसकी कल्पना ही की जा सकती है। घोर आर्य-समाजी, सदाचार का उपासक और नौसिखिया लेखक, कुछ सूझ न पड़ा कि क्या कहूँ, क्या न कहूँ। उन्होंने मानो मेरी स्थिति को भाँप लिया। मन ही मन मुस्कराये भी होंगे। बोले, 'अच्छा, तो तुम वही विष्णु हो जो कहानियाँ लिखता है?'

'जी हाँ।'

'लिखते रहो, ठीक है।'

और फिर दो-चार भारी-भरकम गालियाँ देकर माली की ओर मुखातिब हो गए। और मैं जान बचाकर वहाँ से भागा। उनकी प्रतिभा का मैं तब भी कायल था, लेकिन मैं भाषा से सहमत नहीं हो सका। और मुझे लगा कि इस व्यक्ति के अन्दर कुछ टूट गया है। और वह टूटन इसे काट रही है। वह उसे झेल नहीं पा रहा। गालियाँ उसी नपुंसक क्रोध का प्रतीक हैं। आज भी मेरी यही मान्यता है। उनकी भाषा में जितना रोष-आक्रोश था और वाणी में जितनी उग्रता और अभद्रता थी, अन्तर में वह उतने ही दुर्बल थे और उस दुर्बलता को छिपाने के लिए ओज की चाँदनी चढ़ाते रहते थे। शीशे पर चाँदी चढ़ जाती है तो वह दर्पण बन जाता है। लेकिन उस दर्पण में आदमी अपने को ही देखता है। और जैसा देखना चाहता है वैसा ही देखता है। असली रूप को नहीं देख पाता।

उसके बाद उनको खूब पढ़ा। उनके बारे में जाना, उनसे मिला। प्रशंसा और निन्दा दोनों ही उनसे पाई। लेकिन अपनी राय बदलने का अवसर नहीं पाया। हमेशा यही लगा कि इस व्यक्ति को पारखियों ने पहचानने में गलती की है। और प्रतिक्रियास्वरूप इसने अपनी उपस्थिति का अनुभव कराने के लिए इस अनगढ़ उग्रता को ओढ़ लिया है।

उनको लेकर घासलेटी साहित्य के विरुद्ध एक आन्दोलन चला। तत्कालीन समाज की जो स्थिति थी और आर्यसमाज का घोर ब्रह्मचर्य वाला जो अतिसंयमी आचरण तत्कालीन प्रबुद्ध मानस को ग्रसे हुए था, उसमें उग्र जैसे व्यक्तियों को कोई कैसे समझ सकता था। बड़े उग्र रूप में उन्होंने समाज पर चोट की और नग्नता को कला के झीने आवरण में ढँकने का प्रयत्न नहीं किया। बहुत वर्षों बाद 'चॉकलेट' का फिर से प्रकाशन हुआ। उन कहानियों को पढ़कर मैं उस पुराने आन्दोलन से सहमत नहीं हो सका। निश्चय ही वे शिल्प की दृष्टि से सुन्दर रचनाएँ नहीं थीं लेकिन उनका उद्देश्य अश्लीलता

का प्रचार करना भी नहीं था। उस पुस्तक की 'रिव्यू' करते हुए मैंने ये दोनों बातें लिखीं। न जाने उग्रजी को कैसे पता लग गया कि यह सब मैंने लिखा है। अचानक एक दिन कर्नाट सर्कस में उनसे भेंट हो गई। बिना किसी भूमिका के मेरी ओर बड़ी गम्भीरता से देखते हुए उन्होंने कहा, 'तुमने बड़ी संतुलित आलोचना की है। ठीक ही लिखा है।'

मैं जानता हूँ वह बहुत प्रसन्न नहीं थे। लेकिन इन शब्दों ने मेरी उस धारणा को और भी पुष्ट किया कि इस आदमी को किसी ने समझने का प्रयत्न नहीं किया और यह भी कि यह व्यक्ति समझे जाने की अपेक्षा रखता है। हर व्यक्ति रखता है। लेकिन कुछ हैं कि अपेक्षा पाकर अपेक्षा की चिन्ता नहीं करते और कुछ होते हैं कि उनके भीतर तीव्र प्रतिक्रिया होती है। तीव्र प्रतिक्रिया सदा तोड़ती है।

उग्रजी की व्यंग्य करने की क्षमता और उनकी अनोखी शैली के विवेचन का यह अवसर नहीं है। मेरा ध्यान उनके व्यक्तित्व पर ही जाता है। उनकी भाषा को न सह पाकर भी उनके उग्र अहम् और गतिमय व्यक्तित्व ने सदा मुझे प्रभावित किया। नवम्बर, 1949 में मैं मिर्जापुर गया था। उन दिनों उग्रजी वहीं रहते थे। अपने अग्रज के साथ मैं उनसे मिलने पहुँचा। 9 वर्ष बाद मैं उनसे मिल रहा था। तब का वह मिलना भी क्षणिक ही था। लेकिन वह तुरन्त ही पहचान गए और बड़े स्नेह के साथ स्वागत किया। बैठने के लिए कुर्सियाँ उठा कर लाये। खूब संस्मरण सुनाए। भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। कहा, 'मैं तुम्हें पकवान नहीं खिला सकता। प्रेम के साथ ज्वार-बाजरे की रोटी खानी है तो स्वागत है।'

उनका वह स्नेह-भरा निमन्त्रण स्वीकार करके हमें खुशी होती, लेकिन चूँकि हमें आगे जाना था इसलिए इस सौभाग्य से वंचित रह गए। पर बातों में बड़ा आनन्द आया। तत्कालीन साहित्य के तथाकथित नेताओं को लेकर उन्होंने

जो कुछ भी कहा वह रंचमात्र भी अनर्गल नहीं था। सटीक था। मुझे ऐसा लगा जैसे वे अब कुछ गम्भीर हो गए हैं। जैसे बुद्धि को कुछ स्थायित्व मिल गया है। गालियाँ भी कुछ कम हो गई हैं। कहीं थक तो नहीं गए। लेकिन सिने-जीवन के संस्मरण सुनाते हुए जब उन्होंने प्रसिद्ध अभिनेत्री श्रीमती दुर्गा खोटे की चर्चा की और बताया कि उसने एक दिन मुझसे सेट पर ही एक सम्बोधन बदलने के लिए कहा। वह चाहती थी कि अमुक व्यक्ति को उससे प्रिय न कहलवाया जाए। उस समय उग्रजी अपनी चिरपरिचित आवरणहीन उग्र भाषा का प्रयोग करने लगे। श्रीमती दुर्गा खोटे और अपने लिए उन्होंने न संज्ञा का प्रयोग किया, न सर्वनाम का। विशुद्ध पुल्लिंग और स्त्रीलिंग पर आ गए।

मैं तब तक आर्यसमाज के अतिसंयमी प्रभाव से काफी मुक्त हो चुका था। लेकिन फिर भी अग्रज की उपस्थिति में एक और अग्रज के मुख से इस प्रकार की भाषा सुनकर सकपका गया। लेकिन उग्र यह भाषा न बोलें तो उन्हें पहचाने कौन ?

कई वर्ष बाद वे दिल्ली आकर रहने लगे। तब उनसे बहुत मिलना होता था। कर्नाट सर्कस के बरामदों में बहुत बार उनके साथ सैर की है। मित्रों और अग्रजों के प्रति उनके आक्रोश को भद्दी-भद्दी गालियों में बहते हुए देखा है। मुझे देखते ही वह छींटाकशी करने से नहीं चूकते थे। जैसे एक दिन बोले, 'क्या यह छिले हुए आलू जैसा चिकना-चिकना मुँह लिए हुए घूम रहे हो।'

एक बार तो मुझसे इतने अप्रसन्न हुए कि तीव्र भर्त्सना का पत्र लिख भेजा। मई, 1957 में भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की शताब्दी मनाई गई थी। उस अवसर पर आकाशवाणी से अनेक रूपक प्रसारित हुए थे। सबसे पहला रूपक मैंने ही लिखा था। उसका बहुत सीमित क्षेत्र था। मुझे उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना था। सामग्री बहुत कम उपलब्ध थी। और फिर वह एक डाकूमेन्ट्री रूपक ही तो था। संयोगवश वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान में भी छपा।

उग्रजी ने उसे पढ़ते ही तुरन्त मुझे वह भयानक पत्र लिखा। साथ ही साथ सम्पादक को भी खरी-खोटी सुनाई। उस पत्र का सम्बोधन इस प्रकार था—
“देखो जी महाशय विष्णु प्रभाकर। और अपने हस्ताक्षर इस प्रकार किए थे—
‘वही उग्र (चवन्निया पाठक)’।”

पते में मेरे नाम के साथ एक श्री के स्थान पर दस बार श्री लिखा था। मैं जानता था कि वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बाँके बिहारी भटनागर से अप्रसन्न हैं। शायद मेरे द्वारा की गई ‘चॉकलेट’ की आलोचना से भी वह अप्रसन्न हुए हों, अन्यथा रेडियो के आदेश पर लिखा गया वह रूपक इस योग्य नहीं था कि उसकी चर्चा की जाती। फिर भी मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्हें पत्र लिखा। परन्तु न तो उन्होंने उसका कोई उत्तर दिया, न मिलने पर इस बात की चर्चा की। उसी तरह मुक्त भाव से मिलते रहे। एक बार मैंने उनसे कहा, ‘उग्रजी, कृपया आप एक बार मेरे गरीबखाने पर भोजन करने पधारिये।’

तब वह पान की दुकान पर पान खा रहे थे। एक पान मेरी ओर भी बढ़ाया। बोले, “सोच लिया है?”

मैंने कहा, “इसमें सोचने की क्या बात है? आप अग्रज हैं, आपको आना चाहिए।”

वह मुस्कराए। केवल इतना ही कहा, “ठीक है, अच्छा...।”

लेकिन सहसा दूसरे व्यक्ति की ओर देखकर उन्होंने कहा, “हमें बहुत-से लोग बुलाते हुए डरते हैं।”

उस व्यक्ति ने पूछा, “क्यों?”

तलखी से बोले, “सालों के घर में जवान लड़कियाँ, बहुएँ जो होती हैं।” मैं स्वीकार करूँगा कि मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा। लेकिन उग्रजी तो उग्रजी

थे। उनको अप्रतिभ होते हुए मैंने एक ही बार देखा। आकाशवाणी पर कवि सम्मेलन था। दिल्ली के सभी प्रमुख साहित्यकार निमंत्रित थे। उग्रजी थे, ददा मैथिलीशरण गुप्त भी थे। सम्मेलन समाप्त होने पर अपने स्वभाव के अनुसार ददा सबसे मिलते घूम रहे थे। मैंने कहा, “ददा, उग्रजी भी आये हैं।”

ददा तुरन्त यह कहते हुए, “कहाँ हैं?” उनकी ओर लपके और उन्हें सामने पाकर बड़े स्नेह से उनसे बातें करने लगे। कुशल समाचार पूछा और बोले, “कभी गरीबखाने पर जूठन गिराने आइये न?”

उग्रजी ने क्या जवाब दिया था ठीक शब्द याद नहीं है। निश्चय ही यह संयत उत्तर था। लेकिन चलते-चलते एकाएक ददा बोले, “महाराजजी, आपने अपनी प्रतिभा का बड़ा दुरुपयोग किया है।”

उग्रजी हतप्रभ-से देखते ही रह गए और ददा आगे बढ़ गए। यद्यपि इस स्पष्टता के पीछे स्नेह ही था, फिर भी इसके दंश में कचोट तो था ही, पर उग्रजी एक शब्द नहीं बोले। शायद ददा के प्रति आदर के कारण, शायद स्थिति की आकस्मिकता के कारण।

अन्तिम बार मैं उनसे जयपुर में मिला था। तब उन्हें पहली बार दिल का दौरा पड़कर ही चुका था। एक छोटे-से कमरे में वे लेटे थे। आसपास, कई मित्र थे। उन्हें देखकर यही लगता था कि वह अस्वस्थ हैं। वैसा ही जीवन, वही मुक्तता। मुझे देखकर वह उठ बैठे और काफी देर तक बड़े स्नेह से बातें करते रहे। स्नेह उनमें निश्चय ही था परन्तु उनका व्यंग्य-विद्रूप वाला रूप इतना उभरकर सामने आता था कि शेष सब कुछ उसमें छिपकर रह जाता था। वह मानो प्रतिक्षण बदला लेने की भावना से प्रेरित रहते थे। उनके साहित्य की शक्ति बेशक व्यंग्य पर आधारित थी लेकिन उनमें और भी गुण थे। वह तीव्र समाज-सुधारक और खरे देशभक्त थे। विस्तार के बावजूद शैलीकार के रूप में सदा जीवित रहेंगे। ‘चन्द हसीनों के खतूत’, ‘महात्मा ईसा’, ‘बुधवा की

बेटी' और 'अपनी खबर' जैसी उनकी रचनाएँ उनकी प्रतिभा का जयघोष करती रहेंगी। 'उसकी माँ' जैसी उनकी कहानी उनके उस रूप को उजागर करती है जिसकी ओर हमारा ध्यान नहीं गया।

वस्तुतः उनका व्यक्तित्व अद्भुत मनोग्रंथियों का समूह था। उन्होंने जिस स्नेह-समादर की अपेक्षा की वह उन्हें न तो जीवन में मिला न साहित्य में। वह जीवन भर अविवाहित रहे, पर उस स्थिति को सह नहीं पाये। वह उन आक्रमणों की अपेक्षा भी नहीं कर सके जो उन पर हुए। अन्तर में टूट जाने पर भी अपनी उपस्थिति का अनुभव कराने का कोई अवसर नहीं चूके। इसीलिए उनका व्यंग्य-दंश अत्यन्त विषैला और किसी सीमा तक दिशाहीन भी हो उठता था। लेकिन जैसे झाग के नीचे शुद्ध सलिल बहता है उसी तरह उनके इस अनगढ़, अनियंत्रित जीवन के पीछे एक सशक्त लेखक, एक देशभक्त और एक स्नेही मनुष्य का हृदय भी छलकता था। उन्होंने नये सिरे से फिर लेखनी उठाई थी। पर कल भगवान अचानक ही उन्हें हमारे बीच से उठा ले गए। लेकिन साहित्य के इतिहास में वे सदा जीवित रहेंगे।

लेखक/लेखिका परिचय

1. चारा काटने की मशीन

उपेन्द्रनाथ अशक

सुप्रसिद्ध हिंदी के कथाकार व उपन्यासकार उपेन्द्रनाथ अशक का जन्म पंजाब के जलन्धर में 14 दिसंबर 1910 को हुआ। जलन्धर में आपकी प्रारंभिक शिक्षा हुई। शिक्षा प्राप्त करते समय आपने अपनी 11 वर्ष की आयु में पंजाबी तुकबंदियाँ लिखी थी। स्नातक प्राप्त करने के उपरांत अध्यापन कार्य आपने आरंभ किया था। अशक जी अपना साहित्यिक जीवन उर्दू लेखक के रूप में शुरू किया था, किंतु बाद में हिंदी के लेखक के रूप में ही जाने गये। प्रेमचंद की सलाह पर सन् 1932 से हिंदी में लिखने लगे।

अशक जी की साहित्य प्रायः सभी विधाओं में लिख चुके हैं। मुख्य पहचान कथाकार के रूप में काव्य, नाटक, संस्मरण, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि क्षेत्रों में सक्रिय रहे। हिंदी और उर्दू दोनों साहित्य में आपका समान योगदान है। अशक के व्यक्ति चिंतन के पक्ष को देखकर यही ध्वनि निकली है कि उन्होंने अपने चरित्रों को शिल्पी की बारीक दृष्टि से तराशा है।

कृतियाँ : गिरती दीवारें, शहर में घूमता आइना, सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ, जुदाई की शाम के गीत, काले साहब, लौटता हुआ दिन, बड़े खिलाड़ी, जयपराजय, दुर्ग की झलक, एक दिन आकाश ने कहा, प्रातः प्रदीप आदि।

2. वह चीनी भाई

महादेवी वर्मा

हिन्दी की श्रेष्ठ कवयित्री और गद्य लेखिका महादेवी वर्मा 'वेदना की मधुर गायिका' के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके प्रायः समस्त साहित्य का लक्ष्य नारी और केंद्र बिन्दु करुणा है। कविता के क्षेत्र में प्रकृति सौन्दर्य रहस्यमय सत्ता के साथ प्रणय निवेदन और परदुःख कातरता उनके प्रिय विषय रहे हैं। गद्य में उन्होंने अनेक सशक्त रेखाचित्र और संस्मरण लिखकर हिन्दी साहित्य की इस विधा में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान किया है। उनकी चित्रकला भी इस रचनात्मकता में सहायक हुई है। काव्य की भाँति ही उनका गद्य भी भाषा और शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सुगठित है।

महादेवी वर्मा हिन्दी साहित्य की आधुनिक मीरा के रूप में विर-परिचित हैं। महादेवी का साहित्यिक जीवन अत्यन्त सफल रहा। 'नीरजा' काव्य-संग्रह को सेक्सरिया पुरस्कार तथा 'आधुनिक कवि' को हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था। देश के स्वतन्त्र होने पर महादेवी वर्मा जी उत्तर प्रदेश धारा-सभा की सदस्या मनोनीत हुई थीं। सन् 1964 में 'भारती परिषद्' की ओर से 'महादेवी अभिनन्दन ग्रंथ' प्रकाशित किया गया था। महादेवी के लोकप्रिय और प्रातिनिधिक कविताओं का संकलन 'यामा' को ज्ञानपीठ पुरस्कार का गौरव प्राप्त हुआ है। इनकी गद्य रचनाओं में मनोवैज्ञानिक चिन्तन-क्रम, गंभीर विचार और अनुभूति का गहरा पुट है। गद्य में भी काव्य का सा आनन्द मिलता है। महादेवी का भाषा पर पूर्ण अधिकार है।

कृतियाँ :- नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा (काव्य संग्रह); अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ (रेखाचित्र); मेरा परिवार, पथ के साथी (संस्मरण); क्षणदा, श्रृंखला की कड़ियाँ (आलोचना और निबंध)।

3. अतिथि ! तुम कब जाओगे

शरद जोशी

हिन्दी के प्रख्यात व्यंग्यकार शरद जोशी जी का जन्म 21 मई, 1931 को मध्यप्रदेश राज्य के उज्जैन शहर में कर्मकांडी ब्राह्मण परिवार में हुआ। आपकी बी.ए. तक की शिक्षा उज्जैन में ही हुई। लिखने का शौक उन्हें शुरू से ही था एवं उनके इस शौक को उनकी पत्नी इरफान ने फलने-फूलने का सम्पूर्ण मौका भी दिया।

सन् 1952-53 में इन्होंने इन्दौर की दैनिक पत्रिका 'नई दुनिया' में परिक्रमा नामक व्यंग्य-स्तम्भ लिखना शुरू किया था। तभी से ये व्यंग्यकार के रूप में प्रतिष्ठित होने लगे।

इन्होंने साहित्य की कई विधाओं में अपना कौशल प्रदर्शित किया है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी शरद जी को 1980 में 'मधुमेह' की बीमारी ने घेर लिया एवं 5 सितम्बर 1991 को बम्बई में शरद जी इस संसार को छोड़ गए। इनका व्यंग्य लेखन निश्चित ही हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर है।

कृतियाँ :-

व्यंग्य : परिक्रमा, किसी बहाने, जीप पर सवार इल्लियाँ, रहा किनारे बैठ, तिलिस्म, दूसरी सतह, पिछले दिनों, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, यथा-सम्भव हम भ्रष्टन के भ्रष्ट हमारे, मुद्रिका रहस्य इत्यादि।

नाटक : अंधों का हाथी एवं एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ।

काव्य : 'अंधा-युग' की काव्य पैरोडी लिखनेवाले शरद जोशी जी ने कई अन्य काव्य पैरोडियों को भी रचा है एवं व्यंग्य कविताएँ भी लिखी हैं।

4. कूर्माचल में कुछ दिन

डॉ. धर्मवीर भारती

डॉ. धर्मवीर भारती हिन्दी कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक के क्षेत्र में सफल साहित्यकार के रूप में विख्यात हैं। आपका जन्म और शिक्षा-दीक्षा इलाहाबाद में हुई। कुछ दिनों तक वहीं प्राध्यापका का कार्य करने के पश्चात 'धर्मयुग' के संपादक के रूप में आपने बंबई को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। आपने पत्रकारिता को रचनात्मक स्तर पर लाकर महत्ता प्रदान करने का प्रशंसनीय कार्य किया है। भावुकता और बौद्धिकता के अपूर्व समन्वय से नई कविता को प्रतिष्ठा दिलाने वालों में आपका एक विशिष्ट स्थान है।

आपने भारत-पाक संघर्षकाल में युद्ध क्षेत्रों का दौरा कर युद्ध की घटनाओं का जीवंत चित्र रिपोर्ताज के रूप में प्रस्तुत किया है। पौराणिक संदर्भों को युगानुकूल अर्थ देकर लिखे गये आपके गीतिनाट्य 'अंधा युग' ने हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है।

कृतियाँ :- 'गुनाहों का देवता', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'ठंडा लोहा', 'सात गीत वर्ष', 'कनुप्रिया', 'ठेले पर हिमालय', 'युद्ध ब्रह्मपुत्र का', 'कहनी-अनकहनी' आदि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

5. धारणा बनाने में जल्दबाजी क्यों

मृदुला सिन्हा

सुविख्यात हिंदी लेखिका मृदुला सिन्हा का जन्म श्रीमती अनुपा देवी व बाबू छबीले सिंह के यहाँ 27 नवम्बर 1942 को हिन्दू पंचांग के अनुसार राम-विवाह के शुभ दिन बिहार के मुजफ्फर जिले के छपरा गाँव में हुआ था। मनोविज्ञान में एम.ए. करने के बाद उन्होंने बी.एस. किया और मुजफ्फरपुर के एक कॉलेज में प्रवक्ता हो गयीं। कुछ समय तक मोतिहारी के एक विद्यालय में प्रिंसिपल भी रहीं किन्तु अचानक उनका मन वहाँ भी न लगा और नौकरी को सदा के लिए अलविदा कहकर हिन्दी साहित्य की सेवा के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। उनके पति डॉ. रामकृपाल सिन्हा, जो विवाह के वक्त किसी कॉलेज में अंग्रेजी के प्रवक्ता हुआ करते थे, जब बिहार सरकार में मंत्री बने तो मृदुलाजी ने भी साहित्य के साथ-साथ राजनीति की सेवा शुरू कर दी। वर्तमान में आप गोवा की राज्यपाल हैं। एक सुविख्यात लेखिका होने के साथ ही आप भारतीय जनता पार्टी की केन्द्रीय समिति की सदस्य भी हैं। इससे पूर्व वे 'पाँचवा स्तम्भ' के नाम से एक सामाजिक पत्रिका निकालती रही हैं। श्रीमती मृदुला सिन्हा जी भारत रत्न एवं पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व-काल में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्ष भी रह चुकी हैं। आपकी कृति 'एक थी रानी ऐसी भी' की पृष्ठभूमि पर आधारित राजमाता विजयाराजे सिन्धिया को लेकर एक फिल्म भी बनी थी।

कृतियाँ :- राजपथ से लोकपथ (जीवनी), नई देवयानी, ज्यों मेंहदी को रंग, घरवास एवं सीता पुनि बोलीं (उपन्यास), यायावरी आँखों से एवं विकास का विश्वास (लेख संग्रह), देखन में छोटे लगे, ढाई बीघा जमीन एवं साक्षात्कार (कहानी संग्रह)।

6. भटकन

शैल रस्तोगी

शैल रस्तोगी का जन्म सन् 1926 ई. में हुआ। हिंदी के एकांकीकारों में आपका प्रमुख स्थान है। जीवन के यथार्थ से सीधी मुठभेड़ में विश्वास रखनेवाली शैल रस्तोगी के एकांकी नाटकों में वर्तमान जीवन के विविध पक्षों को बड़ी मार्मिकता के साथ उजागर किया गया है। आपके एकांकी नाटक समसामयिक घटनाओं में निहित मानवी पीड़ा को उभारने के साथ ही साथ हमें विचार करने के लिए भी मजबूर करते हैं। आपकी रचनाओं की भाषा सरल तथा बोधगम्य है। संवाद अर्थपूर्ण तथा पैने दृष्टिगोचर होते हैं जो एकांकी के वातावरण एवं पात्रों के अनुकूल समीचीन लगते हैं।

कृतियाँ :- एक ज़िंदगी बनजारा, बिना रंगों के इंद्रधनुष (एकांकी संग्रह); पराग, जंग लगे दर्पण (काव्य); हिंदी उपन्यासों में नारी (शोधग्रंथ) आदि।

7. शवयात्रा

ओमप्रकाश वाल्मीकि

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 30 जून, 1950 को हुआ और उन्होंने एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। कथाकार, आलोचक और सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं के लेखक के रूप में महत्वपूर्ण स्थान। आत्मकथा 'जूठन' दलित सामाजिक जीवन की त्रासदी का एक प्रभावशाली आख्यान है।

एक यथार्थवादी कथाकार के रूप में अपनी रचना में वाल्मीकि बारीक दृष्टि का परिचय देते हैं।

(मेरे लिए कहानी सिर्फ मनोरंजन या आनन्द की अनुभूति देने वाली रचना मात्र नहीं है। कहानी को जीवन-संघर्ष का साक्ष्य देना है। ऐसे अनुभवों का दस्तावेज बनना है, जो कदम दर कदम बाधायें बनकर खड़े हैं। दहकते रक्त को सुन कर देने वाली यातनायें हैं, जो इतिहास नहीं बन सकीं- वे व्यथा-कथायें हैं। जिंदा रहने और जीवन-सरोकारों से जूझते पात्र कटु सच्चाई हैं, जिन्हें कहानियों के माध्यम से दर्ज करने की कोशिश की है।)

सन् 2002 के कथाक्रम सम्मान के अलावा वे डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार 1993 , परिवेश सम्मान 1995 और जयश्री सम्मान 1996 प्राप्त कर चुके हैं।

कृतियाँ :- जूठन, सदियों का संताप, बस्स बहुत हो चुका, सलाम और दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र।

8. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

विष्णु प्रभाकर

अपने साहित्य में भारतीय वाग्मिता और अस्मिता को व्यंजित करने के लिए प्रसिद्ध श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म 21 जून, 1912 ई. को मीरपुर, जिला मुजफ्फर नगर (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा पंजाब में हुई। उन्होंने सन् 1929 में चंदूलाल एंग्लोवैदिक हाईस्कूल, हिसार से मैट्रिक की परीक्षा पास की। तत्पश्चात नौकरी करते हुए पंजाब विश्वविद्यालय से भूषण, प्राज्ञ, विशारद, प्रभाकर आदि की हिन्दी-संस्कृत परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से ही बी.ए. भी किया।

विष्णु प्रभाकरजी ने साहित्य की हर विधा में अपनी लेखनी चलाई और कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, निबन्ध, संस्मरण, एकांकी, यात्रा वृत्तान्त आदि प्रमुख विधाओं में लगभग 100 कृतियाँ हिन्दी को दीं। 'आवारा मसीहा' उनकी सर्वाधिक चर्चित जीवनी है, जिस पर उन्हें 'पाब्लो नेरूदा सम्मान', 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' सदृश अनेक देशी-विदेशी पुरस्कार मिल चुके हैं। प्रसिद्ध नाटक 'सत्ता के आर-पार' पर उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' भी मिला है तथा हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा 'शलाका सम्मान' भी।

विष्णु प्रभाकरजी आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रकाशन सम्बन्धी मीडिया के विविध क्षेत्रों में अत्यन्त लोकप्रिय रहे। देश-विदेश की प्रचुर यात्राएँ भी की। जीवन पर्यन्त पूर्णकालिक मसिजीवी रचनाकार के रूप में साहित्य-साधनारत रहे विष्णु प्रभाकरजी का निधन 11 अप्रैल 2009 को हुआ। साहित्य जगत के इस महान

साहित्यकार की इच्छा के अनुसार उनके पार्थिव शरीर को अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान को सौंप दिया गया।

प्रमुख कृतियाँ :-

जीवनी : आवारा मसीहा, अमर शहीद भगत सिंह, सरदार वल्लभ भाई पटेल।

संस्मरण : जाने-अनजाने, कुछ शब्द कुछ रेखाएँ, यादों की तीर्थयात्रा।

यात्रा-वृत्त : जमना गंगा के नैहर में, हँसते निर्झर, दहकती भट्टी, अभियान और यात्राएँ, ज्योतिपुंज हिमालय।

निबन्ध संग्रह : जन समाज और संस्कृति, क्या खोया क्या पाया।

नाटक : हत्या के बाद, अब और नहीं आदि।

उपन्यास : अर्द्धनारीश्वर, ढलती रात, होरी आदि।

आत्मकथा : संघर्ष के बाद, आदि और अंत आदि।

COMMERCIAL TERMS

वाणिज्य तथा प्रशासनिक शब्दावली

1.	Account	लेखापाल/लेखाकार
2.	Acknowledgment	स्वीकार
3.	Assets	सम्पति
4.	Allowance	भत्ता
5.	Average	औसत
6.	Amount	राशि
7.	Appointment	नियुक्ति
8.	Applicant	आवेदक
9.	Advance	अग्रिम, पेशगी
10.	Auditor	लेखा परीक्षक
11.	Arrears	बकाया
12.	Balance	आँकड़ा
13.	Bonus	लाभांश
14.	Brokerage	दलाली
15.	Booking clerk	टिकट बाबू
16.	Bill of Exchange	विनिमय पत्र
17.	Basic pay	मूल वेतन

18.	Bio-Data	जीवनवृत्त
19.	Branch Office	शाखा कार्यालय
20.	Cash	नकद/रोकड़
21.	Cheque	धनादेश
22.	Cost	लागत
23.	Compensation	क्षतिपूर्ति
24.	Counter foil	प्रतिलिपि, अधपन्ना
25.	Currency	मुद्रा
26.	Credit	उधार
27.	Customer	ग्राहक
28.	Confidential	गोपनीय
29.	Daily Allowance	दैनिक भत्ता
30.	Dealer	विक्रेता
31.	Department	विभाग
32.	Deposit	अमानत
33.	Distribution	वितरण
34.	Discount	बट्टा/छूट
35.	Deduction	कटौती
36.	Designation	पदनाम

37.	Divisional Office	प्रभागीय कार्यालय
38.	Education Qualification	शैक्षिक योग्यता
39.	Endorsement	पृष्ठांकन
40.	Estimate	अनुमान
41.	Enquiry	पूछताछ
42.	Expenditure	व्यय
43.	Evidence	साक्षी
44.	First Information Report	प्रथम सूचना रिपोर्ट
45.	Fire brigade	दमकल
46.	Favourable	अनुकूल
47.	Fixed Deposit A/C	स्थायी जमा खाता
48.	From	प्रेषक
49.	Finance	वित्त
50.	Foreign Currency	विदेशी मुद्रा
